

ब्रितानी शासन का प्रभाव

“वर्षों पहले हमने भाग्यवधू से एक प्रतिज्ञा की थी और अब वह समय आ रहा है जब हम उस प्रतिज्ञा के समग्र रूप में या पूरी तौर पर न सही, काफी दूर तक पूरा करेंगे। रात के बारह बजे जबकि दुनिया नींद की गोद में होती है, भारत नये जीवन और स्वतंत्रता में प्रवेश करेगा।” ये वाक्य जवाहरलाल नेहरू ने 15 अगस्त, 1947 को संविधान सभा और भारतीय राष्ट्र को संबोधित करते हुए कहे थे।

वे स्वतंत्र भारत के प्रधानमंत्री की हैसियत से बोल रहे थे। संघर्ष समाप्त हो चुका था। देश स्वतंत्र था।

लेकिन भाग्यवधू के साथ की गयी वह कौन-सी प्रतिज्ञा थी, जिसकी ओर नेहरू जी ने इशारा किया था ?

स्वतंत्रता मिलने से 17 साल पहले 31 दिसंबर, 1929 को रात के ठीक बारह बजे एक अन्य अवसर पर जब घड़ियाल के घंटे नये वर्ष के आगमन की सूचना दे रहे थे, नेहरू जी ने लाहौर में रावी के तट पर एकत्रित अपार जन समुदाय के सामने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से तिरंगा फहराते हुए घोषणा की कि स्वतंत्रता आंदोलन का उद्देश्य होगा-पूर्ण स्वराज्य, संपूर्ण स्वाधीनता-एक संकल्प लिया गया और यह फैसला हुआ कि भारत के लोग 26 जनवरी, 1930 को आम सभाओं में भारतीय जनता की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने की इच्छा की घोषणा करेंगे। वह दिन स्वतंत्रता का दिन घोषित किया गया। उस दिन के ऐतिहासिक महत्त्व के ही कारण-1950 में जब भारत का नया गणतंत्रीय संविधान तैयार हुआ तो उसे 26 जनवरी को प्रस्तुत किया गया। तब से आज तक हर वर्ष यह दिन गणतंत्र दिवस के रूप में मनाया जाता है।

नेहरूजी ने ‘भाग्यवधू से की गयी प्रतिज्ञा’ की जो बात कही थी उसका इशारा सन् 1929-30 की घटनाओं से था। उस वक्त जो प्रतिज्ञा की गयी थी वह 15 अगस्त, 1947 को तब पूरी हुई, जब भारत स्वतंत्र हो गया।

लेकिन भारत का स्वतंत्रता के लिए संघर्ष सन् 1929 में शुरू हुआ। उसका प्रारंभ कई दशक पहले ही हो चुका था; और यह पुस्तक भारत की स्वाधीनता और स्वतंत्रता के उसी ऐतिहासिक संघर्ष की कहानी कहती है।

भारतीय इतिहास का प्रारंभ मसीही दौर से कई शताब्दी पहले से है। आश्चर्य नहीं कि इस लंबे इतिहास की दिशा समान और एकरूप नहीं रही। एक लंबी अवधि तक भारत एक राष्ट्र न होकर बहुत से राज्यों के रूप में था। ऐसे भी समय आये जब उस उपमहाद्वीप का बहुत बड़ा भाग एक साम्राज्य के अधीन रहा; इस पर अनेक बार विदेशियों ने हमले किये। उनमें से कुछ यहां बस गये और भारतीय हो गये; और राजा या सम्राट के रूप में शासन किया। कुछ ने देश को लूटा-खसोटा और

धन-संपत्ति बटोर कर वापस चले गये। महान् उपलब्धियों के भी वक्त आये और देश को जड़ता और दुःख के भी अनेक दौरों से गुज़रना पड़ा। लेकिन जब हम भारत के स्वतंत्रता संग्राम की बात करते हैं तब हमारा तात्पर्य भारतीय इतिहास के उस दौर से होता है। जिसमें भारत पर अंग्रेज़ों का शासन था और यहां के लोक विदेशी अधिपत्य को समाप्त करके स्वाधीन हो जाना चाहते थे।

भारत में ब्रितानी शासन का प्रारंभ सन् 1757 से माना जा सकता है जब ब्रितानी ईस्ट इंडिया कंपनी की सेना ने बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला को प्लासी के युद्ध में पराजित कर दिया था। लेकिन भारत में ब्रितानी साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक सशक्त राष्ट्रीय संघर्ष का विकास 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 20 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ। यह संघर्ष भारतीय जनता और ब्रितानी शासकों के हितों की टक्कर का परिणाम था। हितों की इस टक्कर को समझने के लिए भारत में ब्रितानी शासन के आधारभूत चरित्र और भारतीय समाज पर पड़ने वाले उसके प्रभाव का अध्ययन करना आवश्यक है। विदेशी शासन के चरित्र के ही परिणाम स्वरूप भारतीय जनता में राष्ट्रीयता के भाव उठे। उसी चरित्र के कारण एक सशक्त राष्ट्रीय आंदोलन के उद्भव और विकास के लिए भौतिक, नैतिक, बौद्धिक और राजनीतिक स्थितियां पैदा हुईं।

भारत में ब्रितानी शासन की अवस्थाएं

सन् 1757 से अंग्रेज़ों ने भारत पर अपने नियंत्रण का प्रयोग अपने निजी हितों की सिद्धि के लिए किया। लेकिन यह सोचना गलत होगा कि पूरे दौर में उनके शासन का मूल चरित्र एक-सा रहा। लगभग दो सौ वर्षों के लंबे इतिहास में वह अनेक चरणों से गुज़रा। ब्रिटेन के अपने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास में परिवर्तन के जो रूप सामने आये, उसी के अनुसार उसके शासन और साम्राज्यवादी चरित्र तथा उसकी नीतियों और प्रभाव में भी परिवर्तन आये।

बात यहीं से शुरू की जा सकती है कि सन् 1757 से भी पहले ब्रितानी ईस्ट इंडिया कम्पनी की दिलचस्पी केवल पैसा बटोरने में थी। उसने भारत और पूर्वी देशों में होने वाले व्यापार पर अपना एकाधिकार इसलिए चाहा ताकि दूसरे अंग्रेज़ या यूरोपीय सौदागर और व्यापारिक कंपनियां उससे प्रतिस्पर्द्धा न कर सकें। कंपनी यह भी नहीं चाहती थी कि भारतीय सौदागर देशी माल की खरीद और विदेशों में उसकी बिक्री के मामले में उनके मुकाबले में आएं। दूसरे शब्दों में कंपनी यह चाहती थी कि अपने माल को, जितना भी संभव हो सके, महंगी कीमत पर बेचे और भारतीय माल को सस्ती कीमत पर खरीदे ताकि उसे अधिकतम लाभ मिल सके। यदि व्यापार की शर्तें सामान्य होतीं और उसमें विभिन्न कंपनियों और व्यक्तियों को मुकाबले में आने की सुविधा होती तब वह लाभ संभव नहीं होगा। कंपनी के लिए अंग्रेज़ व्यापारियों को प्रतिस्पर्द्धा से दूर रखना इसलिए आसान था कि वह घूस तथा अन्य आर्थिक और राजनीतिक साधनों के सहारे से ब्रितानी सरकार यह आदेश प्राप्त कर लेने में सक्षम थी और भारत और पूर्वी देशों से व्यापार करने का उसका एकाधिकार होगा। लेकिन ब्रितानी कानून अन्य यूरोपीय देशों के सौदागरों और व्यापारिक कंपनियों को इस व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा से दूर नहीं रख सका, अतः ईस्ट इंडिया कंपनी को अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लंबी और भयानक लड़ाइयां करनी पड़ीं। चूंकि व्यापार के क्षेत्र कई समुद्र पार बहुत दूरी पर थे, अतः कंपनी को एक

शक्तिशाली नौ-सेना की भी व्यवस्था करनी पड़ी।

कम्पनी भारतीय सौदागरों को भी मुकाबले से दूर नहीं रख सकी, क्योंकि उन्हें शक्तिशाली मुगल साम्राज्य का संरक्षण प्राप्त था। वास्तविकता यह है कि 17वीं और 18वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में भारत के भीतर व्यापार करने का अधिकार मुगल सम्राटों या उनके क्षेत्रीय सूबेदारों को विनयपूर्वक आवेदन देकर प्राप्त करना पड़ता था। लेकिन 18वीं शताब्दी के प्रारंभ में मुगल साम्राज्य दुर्बल हो गया और दूर दराज के समुद्र तट के क्षेत्र उसके अधिकार से निकलने लगे। कंपनी ने अपनी उत्कृष्ट नौ-सैनिक शक्ति का अधिक से अधिक इस्तेमाल करके समुद्र के तटवर्ती क्षेत्रों पर न केवल अपनी उपस्थिति को बनाये रखा वरन् वह उन क्षेत्रों तथा विदेशों से व्यापार करने वाले भारतीय सौदागरों को खदेड़ती भी रही।

ध्यान देने की एक महत्वपूर्ण बात और थी। कंपनी को भारतीय भूमि पर स्थित अपने किलों और व्यापारिक चौकियों की रक्षा करनी थी। अपनी जल और स्थल सेना का रख-रखाव करना था। भारत के भीतर और बीच समुद्र में अपने हितों की रक्षा के लिए लड़ाइयां करनी थीं। इसके लिए एक बड़ी रकम की आवश्यकता थी। इतना बड़ा वित्तीय साधन न तो ब्रितानी सरकार के पास था, न ईस्ट इंडिया कंपनी के पास। अतः इस बड़ी रकम की व्यवस्था भारत से ही करनी थी। कंपनी ने यह काम तटवर्ती क्षेत्रों के अपने किलेबंद शहरों (कोलकाता, चेन्नई और मुम्बई) में स्थानीय ढंग से कर लगा कर किया। अपने वित्तीय साधनों को बढ़ाने के लिए उसके लिए जरूरी हो गया कि वह भारत में अपने नियंत्रण क्षेत्र का विस्तार करे ताकि अधिक कर उगाहा जा सके।

इसी समय के आस-पास ब्रितानी पूंजीवाद भी अपने विकास के सबसे अधिक संभावना-मुक्त क्षेत्र में प्रवेश कर रहा था। उद्योग-धंधे, व्यापार तथा कृषि के अधिकाधिक विकास के लिए अपार पूंजी नियोजन की आवश्यकता थी। चूंकि उस समय इस तरह के पूंजी के नियोजन के साधन ब्रिटेन में सीमित थे, वहां के पूंजीपतियों ने, अपनी लुटेरी दृष्टि विदेशों पर डालनी शुरू की ताकि ब्रितानी पूंजीवादी के विकास के लिए वहां से आवश्यक धन प्राप्त किया जा सके। क्योंकि भारत अपनी धनाढ्यता के लिए प्रसिद्ध था अतः मान लिया गया कि वह इस दिशा में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकने की स्थिति में है।

व्यापारिक एकाधिकार और वित्तीय साधनों पर अधिकार; दोनों ही उद्देश्यों की यथाशीघ्र पूर्ति ही नहीं हुई बल्कि सन् 1750-60 के बीच बंगाल और दक्षिण भारत पराजित होकर कंपनी के राजनीतिक अधिकार में आ गये। ईस्ट इंडिया कंपनी के निदेशकों ने इसकी कल्पना तक नहीं की थी।

अब कंपनी को इन अधिकृत क्षेत्रों में राजस्व वसूल करने का सीधा अधिकार प्राप्त हो गया था और वह स्थानीय शासकों, सामंतों और ज़मींदारों के पास एकत्रित धन को छीनने-खसोटने में सक्षम हो गयी। कंपनी ने सामंतों-ज़मींदारों और राजस्व से प्राप्त अधिकांश धन का एकमात्र उपयोग खुद के तथा अपने कर्मचारियों के लाभ तथा भारत में अपने विस्तार के लिये किया। उदाहरण के लिए सन् 1765 और 1770 के बीच कंपनी ने अपनी शुद्ध आय का लगभग 33 प्रतिशत माल के रूप में बंगाल के बाहर भेजा। इतना ही नहीं, कंपनी के कर्मचारियों ने भारतीय सौदागरों, अलहकारों और ज़मींदारों

से खसोटी गैरकानूनी आय का बहुत बड़ा भाग बाहर भेजा। भारत से निकाली हुई रकम ब्रितानी पूंजीवादी विकास में लगी और उसने उनके विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अनुमान लगाया गया है कि यह रकम उस समय के ब्रिटेन की राष्ट्रीय आय का लगभग दो प्रतिशत थी।

इसी के साथ-साथ कंपनी ने भारतीय व्यापार और उसके उत्पादन पर एकाधिकारिक नियंत्रण प्राप्त करने के लिए अपनी राजनीतिक सत्ता का भी उपयोग किया। धीरे-धीरे भारतीय सौदागर बाहर किये जाते रहे। बुनकरों और दूसरे कारीगरों को या तो अपनी उत्पादित चीजें अलाभकारी कीमत पर बेचना या बहुत कम मजदूरी पर कंपनी में काम करने के लिए मजबूर किया जाता रहा। ब्रितानी शासन के इस पहले चरण का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह था कि प्रशासन, न्याय व्यवस्था, परिवहन और संचार, कृषि और औद्योगिक उत्पादन की विधियों, व्यापार व्यवस्था या शिक्षा और बौद्धिक क्षेत्रों में मूलभूत परिवर्तन की शुरुआत नहीं की गयी। इस अवस्था में ब्रितानी शासन उन परंपरागत साम्राज्यों से बहुत भिन्न नहीं था, जो अपने अधीनस्थ क्षेत्रों से लगान वसूल करते थे; हालांकि ब्रितानी शासन पर काम बड़ी चतुरता से कर रहा था।

अपने पूर्ववर्तियों के चरण-चिह्नों पर चलते हुए अंग्रेजों ने गांवों में प्रवेश करने की आवश्यकता को तब तक अनुभव नहीं किया, जब तक बंधे बंधाये तंत्र से सफलतापूर्वक उस राजस्व की उगाही होती रही, जो आर्थिक शब्दावली में उनके लिए अतिरिक्त राशि थी। परिणामस्वरूप जिस तरह के भी प्रशासनिक परिवर्तन किये गये उनका सर्वोपरि इस्तेमाल राजस्व की वसूली के लिए हुआ। सारा प्रयत्न इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए था कि राजस्व की वसूली का ढंग अधिक सक्षम हो सके।

बौद्धिक क्षेत्र में उन आधुनिक विचारों के प्रसार का कोई प्रयत्न नहीं किया गया, जिनके कारण पश्चिम में जीवन जीने का सारा ढंग ही बदल रहा था। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में केवल दो शिक्षण संस्थाएं खोली गयीं। एक कोलकाता में और दूसरी बनारस में। दोनों ही स्थान फारसी और संस्कृत के परंपरागत अध्ययन के केन्द्र थे। यहां तक कि ईसाई धर्म-प्रचारकों तक को कंपनी के अधिकृत भू-भाग के बाहर रखा गया।

यह बात भी स्मरण रखनी चाहिये कि ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत पर उस समय अधिकार किया जब ब्रिटेन में विशाल वाणिज्यिक व्यापार निगमों का युग समाप्त हो चुका था। ब्रितानी समाज में कंपनी उभरती हुई सामाजिक शक्तियों की जगह पर चुकती हुई शक्तियों का प्रतिनिधित्व कर रही थी।

औद्योगिक पूंजीवाद और मुक्त व्यापार का युग

ईस्ट इंडिया कंपनी के भारत में एक क्षेत्रीय शक्ति बनने के तत्काल बाद ब्रिटेन में एक गहरा संघर्ष इस प्रश्न को लेकर छिड़ गया कि जो नया साम्राज्य प्राप्त हुआ है वह किसके हितों को सिद्ध करेगा, साल दर साल कंपनी को ब्रिटेन के अन्य व्यापारिक और औद्योगिक हितों की सिद्धि के लिए तैयार होने पर मजबूर किया गया। सन् 1813 तक आते-आते वह दुर्बल होकर भारत में आर्थिक या

राजनीतिक शक्ति की एक छाया भर रह गयी। वास्तविक सत्ता ब्रितानी सरकार के हाथों में आ गयी, जो कुल मिलाकर अंग्रेज़ पूंजीपतियों के हित सिद्ध करने वाली थी।

इसी दौर में ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति हो गयी, और इसके फलस्वरूप वह विश्व के उत्पादन और निर्यात करने वाले देशों की अगली पंक्ति में आ गया। औद्योगिक क्रांति स्वयं ब्रिटेन के भीतर होने वाले बड़े परिवर्तन की भी ज़िम्मेदार रही। समय बीतने के साथ औद्योगिक पूंजीपति शक्तिशाली राजनीतिक प्रभाव के कारण ब्रितानी अर्थव्यवस्था के प्रबल अंग बन गये। इस स्थिति में भारतीय उपनिवेश पर शासन करने की नीतियों को अनिवार्य रूप में उनके हितों के अनुकूल निर्देशित करना था। जो भी, हो, साम्राज्य में उनकी दिलचस्पी का रूप ईस्ट इंडिया कंपनी की दिलचस्पी से बिल्कुल भिन्न था, क्योंकि वह केवल एक व्यापारिक निगम था। उसके बाद भारत में ब्रितानी शासन अपने दूसरे चरण में पहुँचा।

भारतीय हस्तशिल्प के निर्यात पर एकाधिकार या भारतीय राजस्व का पूंजी के रूप में सीधे निवेश से ब्रितानी उद्योगपतियों को बहुत लाभ नहीं हुआ। बल्कि दूसरी तरफ तैयार माल की मात्रा में निरंतर वृद्धि के कारण उन्हें विदेशी बाजारों की आवश्यकता पड़ी। बहुत घनी आबादी और बड़े क्षेत्रफल वाला देश भारत उनके लिये एक स्थानीय आकर्षण था। इसी के साथ-साथ ब्रितानी उद्योगों को कच्चे माल, और अंग्रेज़ कामगारों को खाद्य पदार्थों की आवश्यकता पड़ी, जिसका आयात किया ही जाना था। दूसरे शब्दों में ब्रिटेन ने यह चाहा कि भारत उसका एक अधीनस्थ व्यापारिक भागीदारी हो ताकि एक बाजार के रूप में उसे चूसा जा सके और एक आश्रित उपनिवेश के रूप में वह ब्रिटेन के लिए आवश्यक कच्चे माल और खाद्य पदार्थों का उत्पादन तथा उसकी आपूर्ति करे।

लेकिन एक समस्या थी। भारत में जो माल आता था उसका उसे भुगतान करना पड़ता था। उसे एक बड़ी रकम लाभांश के रूप में कंपनी के हिस्सेदारों और अवकाश प्राप्त ब्रितानी प्रशासकों तथा सैनिक कर्मचारियों की पेंशन के लिए बाहर भेजनी पड़ती थी। इन अलहकारों को भारत की सेवा के दौरान संचित रकम ब्रिटेन ले जाने की अनुमति भी देनी पड़ती थी। अंग्रेज़ सौदागरों और चाय, कॉफी के मालिकों के लाभ की रकम भी भारत के बाहर जानी ही थी। ब्रिटेन ने इस देश में जो पूंजी लगायी थी, उसके सूद और लाभांश का भुगतान भी भारत को करना था। इस सबके लिए ज़रूरी था कि भारत ब्रिटेन और अन्य देशों को अपना कुछ माल निर्यात करे ही। लेकिन परंपरागत ढंग से भारतीय हस्तशिल्प का जो निर्यात होता आया था, वह इस वक्त तक वास्तविक अर्थों में बंद हो चुका था, इससे भी महत्वपूर्ण यह था कि भारत को ऐसा कोई भी माल कंपनी की शोषणनीति के कारण निर्यात करने की अनुमति नहीं मिलती थी, जो ब्रिटेन के गृह उद्योगों से प्रतिस्पर्द्धा कर सके, प्रमाण के लिए कपड़े। अतः केवल कृषिजन्य कच्चा माल तथा अन्य अनुत्पादित चीज़ें ही निर्यात की जा सकती थीं। अफीम के अलावा (जिसके आयात पर चीन ने प्रतिबंध लगा रखा था लेकिन उसके बावजूद उसके उत्पादन और निर्यात में अधिक वृद्धि हुई) भारतीय सरकार ने रूई, पटसन, सिल्क, तिलहन, गेहूँ, खाल और हड्डी, नील और चाय के निर्यात को बढ़ावा दिया। इस प्रकार भारत के विदेशी व्यापार के स्वरूप में एक नाटकीय परिवर्तन आया; यद्यपि उससे कोई बेहतरी नहीं हुई। शताब्दियों से सूती कपड़े तथा

हस्तशिल्प की अन्य चीजों का निर्यात करने वाला भारत 19वीं शताब्दी में सूती कपड़ों का आयात और रूई तथा अन्य किस्म के कच्चे माल का निर्यात करने वाला हो गया।

उस समय भारत जिन आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थितियों में फंसा था; उनमें वह नये काम कर ही नहीं सकता था। उसे इस तरह परिवर्तित और रूपांतरित किया ही जाना था ताकि वह ब्रितानी अर्थव्यवस्था के विकास में अपनी नयी भूमिका निभा सके। उसके परंपरागत, गैरपूंजीवादी आर्थिक ढांचे को बदल दिया जाना था। भारत की ब्रितानी सरकार ने सन् 1813 के बाद यहां के प्रशासन, अर्थतंत्र और समाज में जिस तरह के परिवर्तन लाने शुरू किये; उनका उद्देश्य इन्हीं हितों की सिद्धि था।

आर्थिक क्षेत्र में ब्रितानी पूंजीपतियों को भारत में निर्भय प्रवेश करने और अपनी इच्छानुसार आर्थिक क्रियाएं करने की अनुमति दी गयी। इस सबसे अलग मुक्त व्यापार की शुरुआत हुई और भारत के बंदरगाह और बाजार विलायती माल से पट गये। भारत विलायती माल को अपने यहां निःशुल्क या नाममात्र के शुल्क के बाद ले लेने के लिए विवश था। प्रशासन को भी अधिक विस्तृत और व्यापक बनाया गया। पहले उसकी ज़िम्मेदारी राजस्व की वसूली से लेकर व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा के लिए कानून और व्यवस्था की स्थापना तक सीमित थी। अब उसके ज़िम्मे विभिन्न किस्म के बहुत से काम और आ गये। प्रशासन का विस्तार हुआ और उसकी व्याप्ति गांवों तक पहुंची ताकि विलायती माल देश के भीतर-दूर-दराज के गांवों और छोटे कस्बों तक पहुंच सके और वहां से निर्यात के लिए कृषिजन्य माल बाहर लाया जा सके। इस प्रकार 19वीं शताब्दी में भारत के ब्रितानी प्रशासन में तेज़ी के साथ व्यापक परिवर्तन हुए।

इतना ही नहीं, यदि भारतीय समाज के पूरे वैधानिक ढांचे को पूंजीवादी वाणिज्यिक संबंधों पर आधारित करना था तो उसके लिए उसका पुनः कल्प करना ज़रूरी था। उदाहरण के लिए यदि आयात और निर्यात को सुमन्य करने के लिए अपेक्षित लाखों विनियमों की प्राण प्रतिष्ठा करनी थी तो उसके लिए भी ज़रूरी था कि देश के बुनियादी कानून और आचार का आधार करार की पुनीतता हो। अतः कानून और विधान संहिताओं के एक सर्वथा नये निकाय पर आधारित एक नयी न्याय प्रणाली का आगमन हुआ जिसका एक उदाहरण भारतीय दंड संहिता तथा दीवानी अदालत है।

राज्य के नये और विस्तृत प्रशासन तथा न्यायतंत्र तथा ब्रिटन के व्यापारिक संस्थाओं में नीचे की जगहों की व्यवस्था करने के लिए शिक्षित कर्मचारियों के एक विश्वसनीय समूह की आवश्यकता थी। ब्रिटेन के पास इस कार्य के लिए पर्याप्त मात्रा में जनशक्ति नहीं थी। भारत सरकार या ब्रितानी व्यापारी इन सभी जगहों पर अंग्रेजों की नियुक्ति इसलिए नहीं कर सकते थे कि सुदूर भारतीय उपनिवेश और उसकी अनुकूल न पड़ने वाली जलवायु में उन्हें ऊंचा वेतन देना पड़ता। अतः सन् 1883 के बाद से भारत में आधुनिक शिक्षा का प्रारंभ और विस्तार किया गया।

बड़ी मात्रा में चीजों का आयात और उससे भी बड़ी मात्रा में भारी भरकम कच्चे माल के निर्यात के लिए परिवहन की सस्ती और सुविधाजनक व्यवस्था की आवश्यकता पड़ी। अतः सरकार ने नदी मार्गों पर भापचालित नावें चलाने को बढ़ावा दिया और सड़कों का सुधार किया। इन सबसे अलग,

उसने सन् 1853 के बाद रेलपथों का ऐसा जाल बिछाने में आर्थिक सहयोग दिया, जिससे देश के मुख्य नगर और बाजार इसकी बंदरगाहों से जुड़ गये। सन् 1905 तक लगभग 3 अरब 50 करोड़ की लागत से 28 हजार मील के रेलपथ का निर्माण हुआ। इसी तरह एक आधुनिक डाक-तार व्यवस्था की भी शुरुआत हुई, जिसकी वजह से व्यापारिक कार्यकलाप काफी हद तक सुविधाजनक हो गये।

इसी काल में ब्रितानी कूटनीतिज्ञों और उसके भारतीय प्रशासकों में एक उदार साम्राज्यवादी राजनीतिक, विचारधारा का भी उद्भव हुआ। यह भरोसा कर लेने के बाद उत्पादन के क्षेत्र में ब्रिटेन को बस्तुतः अंतर्राष्ट्रीय धरातल पर एकाधिकार प्राप्त है, 19वीं शताब्दी के शुरू के 50 वर्षों में वह एकमात्र ऐसा देश रह गया जिसे पूरी तौर पर औद्योगिक दृष्टि से विकसित कहा जा सके। समुद्रों पर उसका अधिकार था, और तदंतर उसकी प्रसिद्धि दुनिया के कारखाने के रूप में ही गयी। बहुत से लोग यह विश्वास करने लगे कि तब तक मुक्त व्यापार है; ब्रिटेन अपने परोक्ष और नाममात्र के कब्जे से भारत तथा अन्य देशों में अपने आर्थिक शोषण के कार्यक्रम को उसकी खूबी के साथ चला सकता है। अतः उन्होंने भारतीयों को स्थानीय शासन की कला में शिक्षित करने तथा राजनैतिक सत्ता को अंततः उनके हाथ में सौंप देने की बात करना शुरू किया। बाद के वर्षों में राजनीतिक आंदोलन में, भारत के राष्ट्रवादियों ने इन घोषणाओं का खुलकर उपयोग किया।

विलायत शासन के दूसरे चरण में आर्थिक शोषण का जो नया स्वरूप सामने आया; उसका मतलब सचमुच यह नहीं था कि शोषण के पुराने स्वरूप खत्म हो गये। भारत के शेष भागों को जीतने, विलायती शासन की जड़ों को मजबूत करने, प्रशासन और सेना में ऊँचे पदों पर नियुक्त हजारों अंग्रेजों को दिये जाने वाले वेतन के भुगतान (जो उस समय के मानक से कहीं अधिक थे), प्रशासनिक और आर्थिक क्षेत्रों में परिवर्तन हेतु रकम की व्यवस्था करने और उपनिवेशवाद को देश के उन भीतरी भागों तक पूरी तरह पहुंचाने (जहां से कच्चा माल बंदरगाहों पर पहुंचता था) के लिए भारतीय राजस्व की आवश्यकता थी। फल यह हुआ कि विलायती शासन के दूसरे चरण में भारतीय किसान पर करों का बोझ बुरी तरह बढ़ गया।

इसी दौर में नील, अफीम और चाय आदि के उत्पादन के कुछ ऐसे क्षेत्रों का ; जिनकी विलायती उत्पादकों की प्रतिस्पर्धा नहीं थी, विकास किया गया। हालांकि उन पर भी या तो सरकार या भारत के विलायती पूंजीपतियों को सख्त नियंत्रण रहा। इतना ही नहीं, भारत पर थोपा गया वह मुक्त व्यापार भी एक पक्षीय था। भारत में बनी उन चीजों पर ब्रिटेन में भारी आयात कर लगा दिया जाता था जो तकनीकी दृष्टि से बेहतर ब्रितानी या उनके अधिकार के उपनिवेशों में बने माल का अब भी मुकाबला कर सकती थी। उदाहरण के लिए सन् 1824 में भारत में बने जो कपड़े ब्रिटेन भेजे गये उन पर 30 से लेकर 70 प्रतिशत आयात शुल्क लगा। भारतीय चीनी पर लगा शुल्क उसकी वास्तविक कीमत का तिगुना था। कुछ मामलों में यह शुल्क 400 प्रतिशत था। इस तरह की चीजों पर से आयात शुल्क केवल तब खत्म हुआ जब उनका ब्रिटेन के लिए निर्यात एकदम बंद हो गया। इसके अलावा, भारतीय उत्पादकों को पूरे देश के स्तर पर विकसित बाजार का लाभ उठाने से भी वंचित रखा गया; क्योंकि सरकार ने देश के भीतर चीजों पर चुंगी लगाने के एक लंबे-चौड़े ढांचे के निर्माण का फैसला

कर लिया। इस रूप में भारत को एक ऐसी परस्पर विरोधी स्थिति में डाल दिया गया, जिसमें एक और उसे अपने ही माल को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने के लिए शुल्क चुकाना पड़ता था और दूसरी और विदेशी माल कहीं भी बिना शुल्क के ले जाया जा सकता था। देश के भीतर ही चीजों पर लगने वाली चुंगी सन् 1840 और 1850 के बीच केवल तब खत्म हुई, जब ब्रितानी उत्पादकों ने भारतीय हस्तशिल्प के उत्पादन पर देश के बाजारों तक में अपनी स्थिति निर्णायक रूप में बेहतर कर ली।

विदेशी पूंजीनिवेश और उपनिवेशों में अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा का दौर

भारत में ब्रितानी शासन के तीसरे चरण की शुरुआत सन् 1860 के बाद मानी जा सकती है, जो विश्व की आर्थिक स्थिति में तीन बड़े परिवर्तनों का परिणाम थी। धीरे-धीरे पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों और उत्तरी अमेरिका में औद्योगीकरण की प्रक्रिया चालू हुई और वित्तीय साधन तथा उत्पादन की ब्रिटेन की बेहतर स्थिति समाप्त हो गयी। फ्रांस, बेल्जियम, जर्मनी, संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस और बाद में जापान ने अपने यहाँ शक्तिशाली उद्योगों का विकास किया और अपने माल की खपत के लिये विदेशी बाजार की खोज शुरू की। पुरी दुनिया में नये बाजार के लिए एक गहरी प्रतिस्पर्धा शुरू हुई।

दूसरी तरफ, उद्योग में वैज्ञानिक जानकारी का उपयोग करने के फलस्वरूप 19वीं शताब्दी के अंतिम 25 वर्षों में अनेक तकनीकी विकास की कई बड़ी घटनाएं घटीं। आज का इस्पात उद्योग इसी दौर की देन है। सन् 1850 में सारी दुनिया के इस्पात का उत्पादन केवल 80 हजार टन था, यहाँ तक कि सन् 1870 में यह मात्रा 7 लाख टन से कम थी। सन् 1900 में यह उत्पादन 2 करोड़ 80 लाख टन पर पहुँच गया। इसी दौर में आधुनिक रासायनिक उद्योग का विकास हुआ। औद्योगिक कामों बिजली और आंतरिक दहन से चलने वाले इंजनों में पेट्रोल का उपयोग भी इसी काल की देन है। इसका मतलब यह है कि एक तरफ तो औद्योगिक विकास की गति तेज हुई और दूसरी तरफ उद्योगों में बहुत भारी मात्रा में कच्चे माल की खपत हुई। ऐसा न होता तो सारा औद्योगिक ढांचा ही विसंगति का शिकार हो जाता। तेज गति से होने वाले औद्योगिक विकास के कारण शहरी आबादी में निरंतर वृद्धि हुई और उसके लिए अधिक से अधिक खाद्य पदार्थों की आवश्यकता पड़ी। कच्चे माल और खाद्य पदार्थों की प्राप्ति के लिये नये और सुरक्षित स्रोतों की विस्तृत खोज सारी दुनिया में बड़े पैमाने पर शुरू हो गयी। अफ्रीका, एशिया और लातिनी के देशों में खोज करने वाले राष्ट्रों में कृषि और खनिज संबंधी कच्चे माल के वास्तविक या संभावनायुक्त स्रोतों पर एकाधिकार प्राप्त करने में दूसरे से बाजी मार लेने की होड़ लग गयी।

तीसरे तरफ, उद्योग-व्यापार के विकास तथा उसके आगे उपनिवेशों और उनके बाजारों के शोषण के कारण विकसित पूंजीवादी देशों में अपार धन का एकत्रण शुरू हो गया। यह पूंजी भी निरंतर कम से कम बैंकों, निगमों, न्यासों तथा उत्पादन और मूल्य नियत करने वाले अंतर्राष्ट्रीय संयुक्त व्यवसायिक संस्थानों में सिमट कर इकट्ठी होती गयी। इस पूंजी को लगाने की जगहों की तलाश करनी थी। सचमुच इस पूंजी को उन संबद्ध देशों में लगाने की बड़ी गुंजाइश थी, जहाँ के बहुसंख्यक लोग अभी भी गरीबी में जी रहे थे। लेकिन इन देशों के मजदूर वर्ग के कार्यक्रम चलाने से उस वर्ग की

सौदेबाजी की स्थिति बेहतर हो जाती। परिणाम होता कि पहले से चलने वाले उद्योगों में भी मुनाफे में और कमी। दूसरी तरफ यदि इस पूंजी का उपयोग बाहरी देशों में कृषि या खनिज संबंधी कच्चे माल की उत्पादन के लिए होता तो कई उद्देश्य एक साथ पूरे हो जाते। इस अतिरिक्त पूंजी के विकास की जगह खोजनी ही थी, और क्योंकि इन अविकसित देशों में मजदूरी की दर बहुत कम थी; बड़े मुनाफे की पुरी संभावना थी। गृह उद्योगों का अस्तित्व कच्चे माल पर निर्भर था और उसको भी आपूर्ति इसके माध्यम से हो जाती। एक बार फिर विकसित पूंजीवादी देशों ने एक के बाद एक ऐसे क्षेत्रों की खोज शुरू की, जहां पर वे अपनी अतिरिक्त पूंजी लगा सके।

साम्राज्य और विस्तारवाद ने इस चरण में साम्राज्यवादी देशों में एक महत्वपूर्ण सैद्धांतिक और राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति की। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जनता में गणतांत्रिक भावनाओं का तेजी से विकास हुआ तथा अमेरिका और पश्चिमी यूरोप के लगभग सभी देशों में उसे मतदान का अधिकार प्राप्त हुआ। शासन करने वाले इन देशों के उच्च वर्ग के लोगों में यह सोच कर घबराहट पैदा हुई कि किसान और मजदूर अपने वर्गहित की सिद्धि के लिए इस अधिकार का प्रयोग करेंगे। उन्हें यह भी आभास हो गया कि उच्च वर्ग द्वारा समाज का राजनीतिक और आर्थिक नियंत्रण करने के लिए धीरे-धीरे समाप्त होने वाले हैं। साम्राज्यवाद ने एक मार्ग दिया। इसका उपयोग आम लोगों का ध्यान, उस चेतना की ओर से हटा कर बाहरी भव्यता से जोड़ने, उन में कट्टरपंथी राष्ट्रवादिता, देशभक्ति और आत्म-गौरव का भाव जगाने के लिए किया जा सकता था ताकि एक बार फिर उनका समाज साम्राज्यवाद के घेरे में लिपट सके। अंग्रेजों ने यह नारा लगा कर कि 'ब्रिटिश साम्राज्य में सूर्य कभी डूबता ही नहीं है,' उन मजदूरों के मन में गौरव और संतोष का भाव जगाना चाहा, जिनकी मैली-कुचैली बस्तियों में वास्तविक जीवन में शायद ही कभी सूर्य चमका हो। जर्मनीवासी अपनी गौरव प्रतिष्ठा के लिए एकजुट हो गये। फ्रांसीसियों का ख्याल था कि सभ्यता का प्रसार करना उनका ध्येय है।

जापान ने एशिया और रूस ने स्लावों का मुक्तिदाता होने का दावा किया। उत्तरी अमेरिका ने दावा किया कि लातिनी अमेरिका की देखरेख की ज़िम्मेदारी उनकी है, क्योंकि वे स्पष्टतया नियति से उससे जुड़े हैं। वे शीघ्र ही यह विश्वास करके चलने वाले थे कि 20वीं शताब्दी अमेरिकी शताब्दी होने वाली है। विस्तार, साम्राज्यवाद और राष्ट्रीय महानता के सिद्धांत ने जनता को अपना मत उसी तरह की सरकार के पक्ष में डालने की प्रेरणा दी, जिस तरह की सरकार, उन्हें मतदान का अधिकार मिलने के पहले, शासन करती आ रही थी। इन सभी तत्त्वों और शक्तियों का एक ही परिणाम निकला। यानी ऐसे पूर्ण या अर्द्धउपनिवेश जहां के बाज़ार कच्चे माल और पूंजी निवेश पर संबद्ध पूंजीवादी देश अपने एकाधिकार स्थापित कर सकते थे। जैसे-जैसे उपनिवेशों या अर्द्धउपनिवेशों पर कब्ज़ा करने की संभावना कम होती गई आधिपत्य की तीखी और गहरी प्रतिस्पर्धा में तेजी से विकास हुआ। उपनिवेशों में दुनिया को बांटने का संघर्ष इन नयी बस्तियों वाली दुनिया के पुनर्विभाजन के संघर्ष में बदल गया।

ब्रिटेन के लिए यह सारा दौर तनाव और दबाव से गुज़रने का था, क्योंकि विकसित पूंजीवादी

देशों में आने वाले नये लोगों ने व्यापार और पूंजीनिवेश के क्षेत्र में बनी उसकी प्रधानता की स्थिति की आलोचना की। अतः ब्रिटेन ने अपने वर्तमान साम्राज्य पर नियंत्रण को मजबूत करने तथा उसे विस्तृत करने के लिए शक्तिशाली प्रयास शुरू किया।

भारत में ब्रितानी शासन का तीसरा चरण इस दृष्टि से ध्यान देने योग्य है कि उसमें साम्राज्यवादी आधिपत्य के अंकुश को नये सिरे से तेज किया गया और इसका प्रतिबिंबन लिटन, डफ्रिन, लैंसडाउन और सबसे अधिक कर्जन सरीखे वायसरायों की प्रतिक्रियावादी नीतियों में हुआ। चूंकि अंग्रेजों को सारी दुनिया में एक गहरी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा था, उनकी दृष्टि में भारत ही एक ऐसा आश्रयस्थल दिखाई दिया, जहाँ उनकी पूंजी सर्वाधिक लाभदायक हो सकती थी।

सन् 1850 के बाद, ब्रिटेन की बहुत बड़ी पूंजी रेलवे, भारत सरकार को ऋण देने तथा अपेक्षाकृत छोटे पैमाने पर चाय बागानों, कोयले की खानों, चटकलों, जहाजरानी, व्यापार और बैंकों में लगायी गयी। इस पूंजी को आर्थिक और राजनीतिक खतरों का शिकार होने से बचाने के लिए जरूरी था कि भारत में ब्रितानी शासन की पकड़ को और अधिक मजबूत किया जाये। इस तथ्य को उस वक्त के ब्रितानी अधिकारियों और कूटनीतिज्ञों ने स्पष्ट रूप में स्वीकार किया। अतः एक प्रशासनिक अधिकारी रिचर्ड टैम्पुल ने, जो मुम्बई के राज्यपाल थे, सन् 1880 में लिखा कि ब्रिटेन को हर कीमत पर भारत पर अधिकार बनाये रखना होगा क्योंकि, ब्रिटेन की बहुत अधिक पूंजी, इस विश्वास पर इस देश में झोंक दी गयी है कि ब्रितानी शासन यहाँ पर अनंतकाल तक बना रहेगा।

ब्रिटेन की साम्राज्यवादी योजना में भारत ने भी एक और महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अफ्रीका और एशिया में ब्रितानी सत्ता का संगठन और विस्तार करने का मुख्य साधन भारतीय सेना थी। इसने पूरी दुनिया में ब्रितानी साम्राज्य की रक्षा के लिए ब्रितानी नौ-सैना के साथ-साथ नौ-सेना के एक मुख्य औजार के रूप में कार्य किया। परिणाम यह कि इस स्थायी सेना के महंगे रख-रखाव में सन् 1904 में भारतीय राजस्व का लगभग 52 प्रतिशत लग गया।

स्वायत्त शासन में भारतीयों को शिक्षित करने की सारी बातें इस दौर में खत्म हो गयी थीं। इनकी पुनः चर्चा सन् 1918 में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभाव के कारण शुरू हुई। बल्कि, इसकी जगह पर यह घोषित किया गया था कि ब्रितानी शासन का उद्देश्य भारत को स्थायी न्यासधारिता (अमानत) या उदार स्वेच्छाचारी शासन के अंतर्गत रखना है। यइ कहा गया कि भौगोलिक, जातिगत, ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कारणों से भारत के लोग स्वयं शासन कर पाने में सदा के लिए अयोग्य हो गये हैं। अतः ब्रिटेन को उनके लिए आने वाली कई शताब्दियों तक एक उदार और सभ्य शासन की व्यवस्था करनी है।

भारत में परिवर्तन की प्रक्रिया पहले ही शुरू हो गयी थी, और वह तीसरे चरण में भी जारी रही। यह बात अधिक महत्वपूर्ण हो गयी कि ब्रितानी शासन की व्याप्ति भारतीय समाज और भारत की हर जगह तक होनी चाहिये। उसके हर गांव और शहर को दुनिया की अर्थव्यवस्था से ब्रिटेन के लाभ के लिए जोड़ दिया जाये। लेकिन, पहले की ही तरह यह परिवर्तन या रूपांतरण सीमित या आंशिक रहा। ऐसा होने के कारण भारत के ब्रितानी उपनिवेशवाद के चरित्र में मौजूद थे।

प्रथमतया जिस तरह से प्रारंभिक समय में ब्रितानी जीत में लगी राशि की पूर्ति भारतीय राजस्व से की गयी, इसी तरह प्रशासन तथा आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन लाने में जो धन खर्च हुआ उसकी पूर्ति भी भारतीय राजस्व से की जाने वाली थी। लेकिन भारत एक गरीब देश था और उपनिवेशवाद ने उसके भविष्य को कलंक बना दिया; जबकि आर्थिक दृष्टि से विकासशील देश आसानी से बढ़े हुए राजस्व का भार वहन कर सकता था, भारत में इस तरह की राजस्व वृद्धि का मतलब, अधिक कराधान करना था। इस तरह की प्रक्रिया की कुछ स्पष्ट राजनीतिक सीमाएं भी थीं। जहां की अर्थव्यवस्था जड़ हो गई हो, वहां पर करों के बढ़ाने का मतलब ही एक लोक सम्मत विद्रोह होता है। इतना ही नहीं भारत एक साथ महंगे प्रशासनिक और सैनिक ढांचे का खर्च, और शिक्षा, सिंचाई संचार व्यवस्था और आधुनिक उद्योग, के विकास के लिए जरूरी धन व्यवस्था नहीं कर सकता था। वास्तव में भारत में उपनिवेशवाद में यह एक केंद्रीय अंतर्विरोधी रोष था। औपनिवेशिक शोषण के अधिक विस्तार के लिए आंतरिक विकास की आवश्यकता थी, लेकिन भारत को पिछड़ा हुआ रखा गया था। अतः शोषण की इस प्रक्रिया ने ही अधिक विस्तार को असंभव बना दिया।

दूसरे, जब औपनिवेशिक अधिकारियों ने भारत को आधुनिक बनाने के परिणामों की ओर ध्यान दिया तो वे इसकी प्रक्रिया को बाधित करने को विवश हुए। यहां तक कि परिवर्तन के एक छोटे से अंश ने ऐसी सामाजिक शक्तियों को जन्म दिया, जिन्होंने साम्राज्यवाद और भारत में उनके शोषण के तंत्र का विरोध करना शुरू कर दिया। अतः वे औपनिवेशिक अधिकारी एक दूसरे संकट के शिकार हो गये। जिस भारत में परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव इसलिए किया गया था कि ताकि वह एक लाभकारी उपनिवेश बन सके, उसी भारत में परिवर्तन के साथ ही ऐसी राष्ट्रवादी सामाजिक शक्तियों को जन्म दिया, जिन्होंने उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष का संगठन किया और औपनिवेशिक शासन के सामने खतरा पैदा हो गया।

भारत में उपनिवेशवाद के मूल तत्त्व

ब्रितानी शासन के परिणामस्वरूप 19वीं शताब्दी के अंत तक पहुंचते-पहुंचते भारत एक विशिष्ट उपनिवेश में बदल गया। वह ब्रितानी उत्पादकों का एक बड़ा बाजार, कच्चे माल और खाद्यान्नों का एक बड़ा स्रोत, और ब्रितानी पूंजी के निवेश का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र था, परिवहन व्यवस्था का एक बड़ा हिस्सा आधुनिक खान और उद्योग, विदेश व्यापार, समुद्र के तट की ओर अंतर्राष्ट्रीय जहाजरानी, बैंक और बीमा कंपनियां, सभी पर विदेशी नियंत्रण था। भारत ने मध्यवर्ग के हजारों अंग्रेजों की नौकरी की व्यवस्था की थी और इसके राजस्व का लगभग एक-तिहाई अंग्रेजों को वेतन देने में खर्च होना ही था। भारतीय सेना ने दूर-दराज के ब्रितानी साम्राज्य की देखभाल तथा पूर्व, दक्षिण-पूर्व, मध्य तथा पश्चिमी एशिया और उत्तरी, पूर्वी तथा दक्षिणी अफ्रीका में शाही हितों की रक्षा और बढ़ौत्तरी में एक मुख्य औजार के रूप में काम किया।

इन सबसे ऊपर, भारतीय अर्थ व्यवस्था और उसका सामाजिक विकास पूरे तौर पर ब्रितानी अर्थव्यवस्था और उसके सामाजिक विकास के अधीन थे। भारतीय अर्थव्यवस्था को दुनिया की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था पर आश्रित होने की ऐसी स्थिति के साथ जोड़ा गया था, जिसमें श्रम का एक

विचित्र प्रकार का अंतर्राष्ट्रीय विभाजन था। सन् 1760 के बाद उन्हीं वर्षों में जबकि ब्रिटेन दुनिया में आगे बढ़े हुए पुंजीवादी देशों के रूप में विकसित एवं उन्नत हो रहा था, ताकि वह दुनिया के औपनिवेशिक देशों में पिछड़ों का प्रतिनिधित्व कर सके। कारण और परिणाम के संदर्भ में ये दोनों प्रक्रियाएं एक दूसरे पर आश्रित थीं। व्यापार, वित्त और तकनीक का भारत और ब्रिटेन के बीच का आर्थिक संबंधों का सारा ढांचा ही निरंतर इस तरह विकसित हुआ, जिसमें भारत औपनिवेशिक परतंत्रता और पिछड़ेपन का शिकार हुआ।

कृषि का प्रभाव

ब्रितानी शासन और भारत पर उसके प्रभाव ने यहां की जनता को राष्ट्र के रूप में संगठित होने तथा एक शक्तिशाली साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन को उभारने की परिस्थितियां पैदा कीं। यहां के अंग्रेज प्रशासनों द्वारा ब्रिटेन की स्वार्थपूर्ण नीतियों पर अमल किये जाने से भारतीय कृषि तथा किसान वर्ग और उसके व्यापार तथा उद्योग सर्वाधिक प्रभावित हुए। सांस्कृतिक और सामाजिक क्षेत्रों में भी उन नीतियों का गहरा असर पड़ा।

अंग्रेजों ने भारत को कृषिजन्य अर्थव्यवस्था में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बदलाव पैदा किया लेकिन इसका उद्देश्य उत्पादन को बढ़ाकर भारतीय कृषि का सुधार और उससे संबंधित लोगों की, सुख-सुविधा और संपन्नता को सुनिश्चित करना नहीं था। उद्देश्य था कृषि से उपलब्ध संपूर्ण राजस्व स्वयं प्राप्त करना और भारतीय कृषि को ऐसी स्थिति में पड़ जाने के लिए विवश कर देना ताकि वह औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में एक नियत भूमिका निभा सके। पुराने संबंध और संस्थान नष्ट हो चुके थे, नयों का जन्म हुआ था। लेकिन ये नये रूप, न तो आधुनिकीकरण के क्षेत्र में किये परिवर्तन का प्रतिनिधित्व करते थे, न ही उसकी दिशा सही थी।

अंग्रेजों ने भू-राजस्व और लगानदारी की दो बड़ी पद्धतियों का सूत्रपात किया। एक थी ज़मींदारी पद्धति (बाद में इसी ज़मींदारी पद्धति को संशोधित रूप में महालवारी पद्धति के नाम से उत्तर भारत में लागू किया गया) दूसरी थी रैयतवारी पद्धति।

ज़मींदारी पद्धति के अंतर्गत कर देने वाले पुराने खेतिहरों, राजस्व एकत्र करने वालों और ज़मींदारों को भूमि संबंधी व्यक्तिगत संपत्ति के आंशिक अधिकार देकर निजी भू-स्वामियों में बदल दिया गया। इस स्थिति में काश्तकारों को प्राप्त लगान का एक बड़ा भाग सरकार को देना था। इसी के साथ-साथ उन्हें ग्रामीण समुदाय का पूरे तौर पर मालिक बना दिया गया। खेतिहर और किसान 'मर्जी पर आधारित काश्तकारों' में बदल दिये गये।

रैयतवारी पद्धति के अन्तर्गत सरकार खेती करने वाले उन व्यक्तियों से सीधे राजस्व वसूल करती थी, जिन्हें कानूनी तौर पर अपने कब्ज़ों की फसली ज़मीन के स्वामित्व का अधिकार प्राप्त था लेकिन स्वामित्व का उनका अधिकार सीमित था। इसका कारण यह था कि राजस्व बंदोबस्त स्थायी ढंग से नहीं किया गया था और यह कि राजस्व बहुत ऊँची दर से मांगा जाता था। वे प्रायः इसका भुगतान नहीं कर पाते थे।

पद्धति का नाम कुछ भी हो तकलीफ खेतिहर और किसान ही उठा रहे थे। जहां तक व्यावहारिकता का प्रश्न है, उनकी हैसियत पूरी तौर पर 'मर्जी पर आधारित काश्तकार' की थी, हालांकि उन्हें बहुत ऊंची दर पर लगान देने के लिए विवश किया जाता था। उन्हें न केवल बहुत से गैरकानूनी कर और महसूल देने को मजबूर किया जाता बल्कि उनसे बेगार भी कराया जाती थी। इससे अधिक महत्वपूर्ण यह है कि राजस्व पद्धति का नाम या प्रकृति जो भी हो, परिणाम के रूप में सरकार ने भू-स्वामी की हैसियत ले ली। बहुत देर से, खासकर सन् 1901 के बाद लगान की दरों में धीरे-धीरे कमी की गयी, लेकिन इस अवस्था तक पहुंचते-पहुंचते भूमि संबंधी अर्थव्यवस्था उस सीमा तक नष्ट हो चुकी थी, और भू-स्वामियों, महाजनों और सौदागरों ने गांवों को भीतर से इतनी सख्ती से जकड़ लिया था कि लगान में कमी करने से खेतिहरों-किसानों को व्यवहारिक अर्थों में कोई लाभ नहीं था।

भारत की कृषिजन्य अर्थव्यवस्था के लिए ब्रिटेन ने जो नीति अपनाई, उसकी वजह से एक बड़ी बुराई यह पैदा हुई कि देश में एक प्रभावशाली आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के रूप में कर्जा देने वाले महाजन वर्ग का उदय हुआ। ऊंची दरों पर लगान की मांग और उसकी वसूली के सख्त तरीकों के कारण भुगतान के लिए खेतिहारों-किसानों को अक्सर कर्ज लेना पड़ता। अत्यधिक सूद देने के अलावा फसल तैयार हो जाने पर उसे अक्सर अपना अनाज सस्ते भाव पर बेच देने के लिए विवश कर दिया जाता। अपनी चिरकालिक गरीबी से विवश किसान को, खास तौर पर सूखा, अकाल और बाढ़ के दिनों में महाजन की शरण लेनी पड़ती थी। दूसरी तरफ महाजन अपने लाभ के लिए नयी न्याय व्यवस्था और प्रशासन तंत्र का तिकड़मपूर्ण प्रयोग करने में समर्थ था। सच्चाई यह है कि इस मामले में खुद सरकार ने ही उसकी मदद की, क्योंकि बिना महाजन के सहयोग के न तो समय के भीतर लगान की वसूली हो पाती न ही कृषि-उपज के निर्यात के लिए बंदरगाहों तक पहुंचाई जा सकती। यहाँ तक कि तिजारती फसलों को निर्यात के लिए तत्काल प्राप्त करने में सरकार को इन महाजनों का सहारा इसलिए लेना पड़ता था ताकि वे किसानों को वित्तीय मदद देकर राजी कर सकें। अतः यह आश्चर्यजनक नहीं कि समय के बीतने के साथ इस महाजन वर्ग ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था में एक प्रभुत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त करना शुरू कर दिया। ज़मींदारी और रैयतवारी दोनों ही पद्धतियों में बहुत बड़े पैमाने पर ज़मीन वास्तविक खेतिहरों के हाथों से निकल कर महाजनों, व्यापारियों, अधिकारियों और धनी किसानों के हाथों में चली गयी। परिणाम यह हुआ कि भू-स्वामित्ववाद पूरे देश में भूमि संबंधी रिश्तों का एक प्रभुत्वपूर्ण अंग बन गया।

लगान वसूल करने वाले बिचौलिये भी पैदा हुए। इस प्रक्रिया को उप-भूप्रधान कहा जाता है। इस नये भू-स्वामियों और ज़मींदारों का ज़मीन से संबंध पुराने ज़मींदारों से भी कम था। यह तकलीफ उठाने के बदले के लगान की वसूली के लिए एक मशीनरी का संगठन हो, उन्होंने बिचौलियों के नाम अपने अधिकार का उपपट्टा कर दिया।

इस प्रकार ब्रितानी शासन के प्रभाव स्वरूप भूमि संबंधी रिश्तों के ऐसे नये ढांचे का विकास हुआ जो अत्यन्त प्रतिगामी था, अग्रगामी का एकदम उल्टा। इस नयी पद्धति में कृषि के विकास की

रती भर भी संभावना नहीं थी। सामाजिक धरातल पर सतह से लेकर शिखर तक एक नये सामाजिक वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। शिखर पर भू-स्वामी, बिचौलिये और कर्ज देने वाले महाजन तथा सतह पर मर्जी के काश्तकार, बंटाईदार और खेतिहर मजदूर पैदा हुए। यह नया स्वरूप न तो पूंजीवादी था न सामंतवादी और न ही मुगलों की पुरानी व्यवस्था की कोई कड़ी था। यह एक नया ढांचा था, जिसे उपनिवेशवाद ने बनाया। इसे अर्द्ध-सामंती और अर्द्ध-औपनिवेशिक कहा जाता है।

इस सबका सर्वाधिक दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम यह था कि खेती के तरीकों में सुधार करने या अधिक उत्पादन के लिए उसे आधुनिक ढंग से विकसित करने का सर्वथा कोई प्रयत्न ही नहीं किया गया। खेती करने का ढंग अपरिवर्तित रहा। बेहतर किस्म के औजार, अच्छे बीज, और विभिन्न किस्म के खाद और अर्वरकों के इस्तेमाल की कोई शुरुआत ही नहीं की गयी। दरिद्रता के मारे हुए खेतिहर-किसानों के पास कृषि को समुन्नत करने के साधन नहीं थे। भू-स्वामियों में ऐसा करने का उत्साह नहीं था और उपनिवेशित सरकार का बर्ताव एक विचित्र किस्म के ज़मींदार का था। उसकी दिलचस्पी अधिक राजस्व खसोटने में थी और उसने भारतीय कृषि को विकसित और समुन्नत करने या उसको आधुनिक करने की दिशा में कोई कदम नहीं उठाया।

परिणाम था कृषि के उत्पादन में एक लंबे समय तक का गतिरोध! कृषि संबंधी आंकड़ें केवल 20वीं शताब्दी के ही उपलब्ध हैं और यहां पर तस्वीर बहुत निराशाजनक है। सन् 1901 और 1919 के बीच, जबकि सारे कृषिजन्य उत्पादन में 14 प्रतिशत की गिरावट आयी। खाद्यानों के प्रति व्यक्ति उत्पादन में इस गिरावट का प्रतिशत 24 था। काफी दूर तक यह गिरावट सन् 1918 के बाद आयी।

उद्योग-व्यापार पर प्रभाव

कृषि की ही तरह भारत की ब्रितानी सरकार ने उद्योग और व्यापार पर भी अपना नियंत्रण शुद्ध रूप में ब्रितानी हितों के पोषण की दृष्टि से किया। इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत उपनिवेशवाद (जो एक व्यापारिक क्रांति थी) के प्रभाव में आया और विश्व बाज़ार से जुड़ गया लेकिन वह अपनी हैसियत को अधीनस्थ बनाने के लिए विवश कर दिया गया। खास तौर से सन् 1858 के बाद विदेशी व्यापार में बड़ी वृद्धि हुई। सन् 1834 में यह व्यापार 15 करोड़ का था, जो 1858 में 60 करोड़ और 1899 में 2 अरब 13 करोड़ हो गया। सन् 1924 में यह बढ़कर 7 अरब 50 करोड़ की ऊंचाई पर पहुंच गया लेकिन वृद्धि ने न तो भारतीय अर्थव्यवस्था के किसी स्वच्छ पक्ष का प्रतिनिधित्व किया, न ही भारतीय जनता के कल्याण में इसका कोई अवदान रहा, क्योंकि इसका इस्तेमाल ही भारतीय अर्थव्यवस्था को औपनिवेशिक और विश्व पूंजीवाद का आश्रित बनाने के लिए मुख्य औजार के रूप में किया गया था। भारत के विदेशी व्यापार का विकास न तो स्वाभाविक था न ही सामान्य। इसका पोषण साम्राज्यवाद के हितों की सिद्धि के लिए बनावटी ढंग से किया गया था। विदेशी व्यापार की बनावट और उसकी प्रकृति में असंतुलन था। ब्रिटेन में उत्पादित वस्तुओं का देश में ढेर लगा दिया था और उसे मजबूर कर दिया गया था कि वह ब्रिटेन तथा अन्य बाहरी देशों की आवश्यकता के अनुसार कच्चे माल का उत्पादन तथा निर्यात करे।

अंततः एक बार और। विदेशी व्यापार ने देश के भीतर के वितरण को बुरी तरह प्रभावित किया। ब्रितानी नीति ने साधनों को किसानों और कारीगरों से छीनकर सौदागरों, महाजनों और ब्रितानी पूंजीपतियों के हाथों में पहुंचाने में मदद की।

इस दौर के भारत के विदेशी व्यापार का एक विशिष्ट पक्ष यह था कि आयात की तुलना में निर्यात में निरंतर वृद्धि हुई। हमें यह कल्पना नहीं करनी चाहिए कि यह भारत के लिए लाभकारी था। इस निर्यात का मतलब भारत के धन और साधन का बाहर जाना था, क्योंकि इसके नाम पर भारत बाहरी देशों का भविष्य में कोई दावा नहीं कर सकता था। हमें यह अवश्य ही याद रखना चाहिये कि विदेशी व्यापार का विपुल भाग विदेशी हाथों में था और लगभग सारा माल विदेशी जहाजों पर ही बाहर भेजा जाता था।

ब्रितानी शासन का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रभाव था शहरी और ग्रामीण हस्तशिल्प उद्योग का ह्रास और विनाश। न केवल भारत के हाथ से एशिया और यूरोप के विदेशी बाज़ार निकल गये, वरन् भारतीय बाज़ार भी बड़े पैमाने पर मशीनों द्वारा बनाये सस्ते माल से पट गये। परिणाम था देशी हस्तशिल्प की समाप्ति। देशी उद्योगों की बरबादी और रोज़गार के अन्य साधनों के अभाव में लाखों की संख्या में कारीगर खेती की ओर तेज़ी से मुड़े। अतः कृषि पर आबादी का दबाव बढ़ गया।

आधुनिक उद्योगों का विकास

ब्रितानी शासन ने आधुनिक पूंजीवादी उद्योग के पनपने की परिस्थितियां पैदा कीं। इसने पूरे देश में बड़े पैमाने पर परिवहन की व्यवस्था करके एक अखिल भारतीय बाज़ार बनाया। भारत में बहुत दिनों से कृषि और ग्रामीण उद्योगों के बीच एक सामंजस्य बना हुआ था लेकिन चूंकि घरेलू ढंग के ग्रामीण उत्पादन का स्वरूप (जिसमें हस्तशिल्प उद्योग शामिल थे) या तो नष्ट या बुरी तरह छिन्न-विच्छिन्न हो गया था, ग्रामीण उद्योगों और कृषि के बीच का रिश्ता भी खत्म हो गया। लाखों की संख्या में कारीगर बेरोज़गार हो गये थे। नयी राजस्व व्यवस्था में लाखों खेतिहर अपनी ज़मीन से वंचित हो गये। लेकिन इन दोनों स्थितियों के फलस्वरूप एक स्वतंत्र मज़दूर शक्ति का भी जन्म हुआ। इन मज़दूरों के पास रोज़ी-रोटी के लिए सिवाय इसके कोई चारा नहीं था कि वे दैनिक मज़दूरी पर काम करें। इस प्रकार एक आधुनिक पूंजीवादी उद्योग के लिए आवश्यक दो चीज़ें—अखिल भारतीय बाज़ार और प्रचुर संख्या में सस्ते मज़दूर—उपलब्ध हो गयीं। आधुनिक उद्योगों की स्थापना का काम 19वीं शताब्दी के अंतिम 50 वर्षों में निरंतर चला।

भारत में औद्योगिक विकास 20वीं शताब्दी के प्रारंभ तक मुख्यतया चार प्रकार के उद्योगों तक सीमित रहा। सूती कपड़े और पटसन, कोयला खानें और चाय बागान। कुछ और छोटे उद्योगों; जैसे, रूई ओटाई जमाई, ऊनी कपड़े, आटा पीसने, धान कूटने और कड़ियां चीरने के मिलें, चमड़े के शोधनालय, कागज़ और चीनी के कारखाने, नमक, कहवा, सुवर्चल, पेट्रोल और लोहे की खानों आदि को विकसित किया गया। इंजीनियरी, रेलवे और लोहे तथा पीतल की ढलाई के कुछ कारखाने भी स्थापित किये गये।

इन तथ्यों के आधार पर हमें यह कल्पना नहीं करनी चाहिए कि एक औद्योगिक क्रांति की आधारशिला रखी जा रही थी। ऐसा दूर-दूर तक नहीं था : सबसे पहली बात तो यह है कि अधिकांश आधुनिक उद्योग, जो सचमुच विकसित हुए विदेशी पूंजीपतियों के नियंत्रण में थे। दूसरे, हालांकि इस दौर में औद्योगिक विकास नियमित और क्रमबद्ध रूप में हुआ, लेकिन उसकी गति अत्यंत मद्धम थी। देश की विशालता और उसकी उस वक्त की जनसंख्या की तुलना में औद्योगीकरण के प्रयत्न इतने नाममात्र के थे कि उसके संदर्भ में औद्योगीकरण शब्द का प्रयोग ही गलत लगता है। यहां तक कि सन् 1913 तक फैक्टरी कानून के अंतर्गत आने वाले मजदूरों की कुल संख्या 10 लाख से कम थी।

प्रथम विश्व युद्ध और सन् 1930-40 के बीच की मंदी ने भारत के पूंजीपति वर्ग के लोगों को पहली बार अस्थायी तौर पर (व्यावसायिक दिशा में) आगे बढ़ने का अवसर दिया। विदेशी आयात से कोई प्रतिस्पर्धा नहीं थी और सरकार भी भारतीय पूंजीपतियों, व्यापारियों और ठेकेदारों को माल की आपूर्ति के बड़े-बड़े आदेश देने को विवश कर दी गयी थी। इस दौर में भारतीय पूंजीपतियों ने पर्याप्त लाभ कमाया, लेकिन युद्ध की समाप्ति के साथ विदेशी प्रतिस्पर्धा फिर शुरू हो गयी और जल्दी ही उद्योगों में मंदी या निष्क्रियता का समय आ गया।

इस प्रकार देखा जा सकता है कि सन् 1947 तक भारत का औद्योगिक विकास मद्धम और बाधित रहा औद्योगिक क्रांति का प्रतिनिधित्व तो दूर; उसकी शुरुआत तक नहीं हुई। इसमें अधिक महत्त्व की बात यह है कि सीमित विकास की स्वतंत्रता नहीं थी, वह भी विदेशी पूंजी पर आश्रित थी। दूसरे यह कि विकास का ढांचा ही नहीं बनाया गया था कि उसका और अधिक विस्तार ब्रिटेन पर आश्रित रहे। बड़ी पूंजी से उत्पादित माल और रसायन उद्योगों का पूरा अभाव था। इसके बिना उद्योग का स्वायत्त और तेज विकास मुश्किल से हो पाता। मशीनी औजार बनाने और धातुशोधन के उद्योग तो सही अर्थों में थे ही नहीं। इतना ही नहीं, तकनीक के क्षेत्र में भारत पूंजीवादी दुनिया पर पूरी तौर पर आश्रित था। देश में किसी प्रकार का तकनीकी, अनुसंधान कार्य नहीं किया गया।

संक्षेप में भारत में एक वाणिज्यिक परिवर्तन आया; औद्योगिक क्रांति नहीं हुई। झुकाव एक स्वतंत्र औद्योगिक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की ओर न होकर एक आश्रित, अर्द्धविकसित औपनिवेशिक अर्थ व्यवस्था की ओर था। ब्रितानी शासन के अंतर्गत भारत की औद्योगिक प्रगति का एक निषेधक पक्ष और था, उसे देश के कुछ क्षेत्रों और नगरों में केन्द्रित कर दिया गया था। यहां तक कि सिंचाई की सुविधाओं और कारखानों के लिए बिजली का बंटवारा भी बहुत असमान अनुपात में किया गया था इसकी वजह से आय के स्वरूप, आर्थिक विकास और सामाजिक स्तरीकरण में एक बड़ी क्षेत्रीय असमानता बढ़ी।

भारत में ब्रितानी शासन का एक बड़ा कुपरिणाम यह था कि दरिद्रता अपनी चरम सीमा पर रही और देश के अधिसंख्य लोग सामान्य समय में ज़िंदा रहने के लिए आवश्यक न्यूनतम से भी कम पर गुज़ारा करते रहे और जब देश अकाल या बाढ़ की चपेट में आया, तब लाखों की संख्या में मरते रहे। प्रति व्यक्ति आय कम थी और बेरोज़गारी बहुत फैली हुई थी। दादाभाई नौरोजी ने सन् 1880 में यह दिखाया कि यहां की जेल के एक अपराधी के खाने-कपड़े पर एक भारतीय की औसत आमदनी से

50 प्रतिशत अधिक खर्च किया जा रहा था। इस दरिद्रता का परिणाम रहा दुर्बल स्वास्थ्य, आयु की क्षीणता, और समय से पहले मृत्यु। लोगों की यह दरिद्रता स्पष्ट रूप से 19वीं शताब्दी के अंतिम 50 वर्षों में निरंतर पड़ने वाले उन अकालों में देखी गयी, जिससे देश तहस-नहस हो गया था। सन् 1860 और 1908 के बीच के 20 वर्ष अकाल के वर्ष रहे। एक अनुमान के अनुसार सन् 1854 से लेकर 1901 के बीच अकाल से लगभग 2 करोड़ 90 लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई। इन अकालों से ही जाहिर हो गया कि दरिद्रता और दीर्घकालिक भुखमरी ने उपनिवेशित भारत में गहरी जड़े जमा ली थीं।

भारत की दरिद्रता, उसके भूगोल या प्राकृतिक साधनों की कमी, या यहां के लोगों के चरित्र या क्षमता में अंतर्निहित किसी दोष से पैदा नहीं हुई थी। न ही वह मुगलकाल या पूर्व-ब्रितानी अतीत का अवशेष थी, यह दरिद्रता पिछले दो दशकों की देन थी। उसके पहले तक भारत पश्चिमी यूरोप के देशों से ज्यादा पिछड़ा हुआ नहीं था। न ही उस समय के रहन-सहन के स्तर में दुनिया के अन्य देशों की तुलना में कोई बड़ा अंतर था। यथार्थ यह है कि जिस दौर में पश्चिमी देश विकसित और संपन्न हो रहे थे, भारत के कंधे पर आधुनिक उपनिवेशवाद का जुआ रखकर उसे विकसित होने से वंचित कर दिया गया। आज के बहुत से विकसित देशों का विकास लगभग पूरी तरह उसी दौर में हुआ, जिसमें भारत पर अंग्रेजों का शासन था। उनमें से अधिसंख्या सन् 1850 के बाद तक यही करते रहे। सन् 1750 तक दुनिया के विभिन्न देशों के रहन-सहन के स्तर में बड़ा फर्क नहीं था। इस संबंध में यह बात दिलचस्पी के साथ ध्यान देने की है कि ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति का प्रारंभ और बंगाल पर उनकी विजय का संयोगवश समय एक ही है।

मूल तथ्य यह है कि जिन सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रक्रियाओं ने ब्रिटेन की सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति और उसके औद्योगिक विकास को जन्म दिया, उन्हीं प्रक्रियाओं से भारत में सामाजिक और सांस्कृतिक पिछड़ेपन तथा उसके अपेक्षा से कम आर्थिक विकास का भी जन्म हुआ और इस स्थिति को बदस्तूर रखा गया। इसके कारण भी स्पष्ट हैं। ब्रिटेन ने भारत की अर्थव्यवस्था को अपनी अर्थव्यवस्था के अधीन रखा और भारत की मूलभूत सामाजिक प्रवृत्तियों का निरुपण अपनी आवश्यकताओं के अनुसार किया। परिणाम भारत में कृषि और उद्योग में गतिरोध का आना, ज़मींदारों, भू-स्वामियों, राजाओं, महाजनों, व्यापारियों, पूंजीपतियों और विदेशी सरकार के अधिकारियों द्वारा उसके किसानों-मजदूरों का शोषण और दरिद्रता, बीमारी और अर्द्ध-भुखमरी की स्थिति का विस्तार।

सांस्कृतिक और सामाजिक क्षेत्रों में प्रभाव

ब्रितानी शासन के साथ-साथ पश्चिम से एक संबंध भी जुड़ा और वे आधुनिक विचार जो पहले पहल पश्चिमी यूरोप में विकसित हुए थे भारत में आये। यदि अंग्रेज भारत में आये ही न होते तो यह देश उन परिवर्तनों से अछूता रह गया होता, जो 18वीं तथा 19वीं शताब्दी में पश्चिम में आये थे। परिवर्तन की हवा निश्चय ही भारतीय तट भी पहुंची होती। क्योंकि इस देश ने कभी भी कूपमंडूकता की नीति नहीं अपनायी। शताब्दियों से इसने न केवल एशिया बल्कि यूरोप के देशों से यात्रा और

व्यापार के ज़रिये संपर्क स्थापित कर लिया था। यूरोप या अन्यत्र कहीं जो घटनाएं घटी और पश्चिमी में जो नये विचार आये, उनके समाचार इन्हीं साधनों से 18वीं शताब्दी में ही भारत में पहुंचने लगे थे। लेकिन यह संभव है कि इस प्रक्रिया की गति मद्धम रही होती और इसमें बहुत समय लगा होता। ब्रितानी शासन ने उन्हें शीघ्र भारत पहुंचाने में न केवल मदद की बल्कि विदेश आधिपत्य की प्रकृति के ही कारण उन प्रभावों का तेज़ी से विस्तार हुआ और वे देशी संदर्भों से जुड़कर सार्थक हो गये।

प्रभुसत्ता, मानवतावाद, जनतंत्र और युक्तिवाद ने भारत के लोगों के बौद्धिक जीवन को प्रभावित करना शुरू किया और उनमें क्रांतिकारी परिवर्तन आये। इन नये विचारों से न केवल भारतवासियों की अपनी अर्थव्यवस्था, सरकार और समाज के गुण-दोष पर विवेचक दृष्टि से विचार करने बल्कि भारत में ब्रितानी साम्राज्यवाद की वास्तविक प्रकृति को समझने में भी मदद मिली।

आधुनिक विचारों का प्रसार कई माध्यमों, राजनैतिक दलों, छापाखानों, प्रचार पुस्तिकाओं और सार्वजनिक मंचों से हुआ। आधुनिक शिक्षा के प्रसार की जो शुरुआत सन् 1813 के बाद सरकार, ईसाई धर्म के प्रचारकों और भारतीयों के निजी प्रयत्नों द्वारा हुई, उसने भी एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। हालांकि यह भूमिका पूर्ण तौर पर अंतर्विरोधों से भरी हुई और संकीर्ण रही।

पहली बात यह कि आधुनिक शिक्षा का प्रसार बहुत सीमित था। यह लगभग सौ वर्षों तक परंपरागत शिक्षा व्यवस्था की क्षतिपूर्ति करने में असमर्थ रहा। विदेशी सरकार ने प्रारंभिक और माध्यमिक शिक्षा की उपेक्षा की। उच्चतर शिक्षा के प्रति जो उसका दृष्टिकोण सन् 1858 के तत्काल बाद ही विद्वेषपूर्ण हो गया था, जैसे ही, बहुत से शिक्षित भारतीयों ने हाल ही में अर्जित अपने आधुनिक ज्ञान का प्रयोग, ब्रितानी शासन की साम्राज्यवादी और शोषक प्रकृति का विश्लेषण और आलोचना तथा साम्राज्यवाद विरोधी राजनैतिक आंदोलन के संगठन में किया, ब्रितानी शासकों ने उच्च शिक्षा में कटौती के लिए दबाव डालना शुरू कर दिया। वास्तव में सरकार उच्च शिक्षा के प्रसार को रोकने के अपने प्रयत्न में असफल रही। क्योंकि एक बार शुरू हो जाने के बाद स्तर में निरंतर गिरावट आने के बावजूद, जनता की दबाई न जा सकने वाली मांग के कारण उसका क्रम चलता रहा।

यदि उस प्रणाली ने राष्ट्रवादिता के वाहक की भूमिका निभाई तो यह भूमिका इस रूप में अप्रत्यक्ष थी कि उसने शिक्षार्थियों को भौतिक तथा सामाजिक विज्ञान तथा कला विषयक आधारभूत साहित्य उपलब्ध किया, जिससे उनकी सामाजिक विश्लेषण करने की क्षमता को प्रोत्साहन मिला। अन्यथा उस प्रणाली का ढांचा, स्वरूप, उद्देश्य, ढंग और विषयवस्तु तथा पाठ्यक्रम सभी कुछ इस तरह तैयार किये गये जिनसे उपनिवेशवाद के हितों की सिद्धि होती थी।

उपनिवेशवादी प्रकृति के कारण भारती शिक्षा के जो कतिपय अन्य पक्ष उभरे, उन पर भी ध्यान देना चाहिए। आधुनिक उद्योग के उद्भव और विकास के लिए आधुनिक तकनीकी शिक्षा की प्रारंभिक आवश्यकता होती है। एक पक्ष यह है कि उस शिक्षा की पूरी उपेक्षा की गयी। दूसरा पक्ष यह कि शिक्षा के माध्यम के लिए भारतीय भाषाओं की जगह पर अंग्रेज़ी पर बल दिया गया। इसकी वजह शिक्षा का न केवल जनता में प्रसार रुक गया बल्कि शिक्षित समुदाय और आम जनता के बीच भाषाई और सांस्कृतिक खाई पैदा हो गयी। शिक्षा के लिए आवश्यक फंड की सरकार द्वारा अस्वीकृति के

कारण, धीरे-धीरे उसके स्तर में हास आया और वह अत्यंत नीचे आ गया और क्योंकि विद्यार्थियों को स्कूलों-कालेजों में फीस देनी पड़ती थी। अतः शिक्षा पर कस्बों और शहरों में रहने वालों तथा मध्य और उच्च वर्ग के लोगों का, वस्तुतः एकाधिकार हो गया।

नये विचार, एक नया आर्थिक और राजनीतिक जीवन तथा ब्रितानी शासन ने भारतीय लोगों का सामाजिक जीवन पर एक गहरी छाप छोड़ी। इसकी अनुभूति पहले शहरी क्षेत्रों में हुई। बाद में इसने गांवों में भी प्रवेश किया। आधुनिक उद्योग, संचार के नये साधन, विकसित होता शहरीकरण तथा कारखानों, दफ्तरों, अस्पतालों और स्कूलों में स्त्रियों की अधिकाधिक नियुक्ति से सामाजिक परिवर्तन में तेज़ी आयी। सामाजिक अलगाव और जातिगत कट्टरपंथिता समाप्त हो रही थी। भूमि और ग्रामीण संबंधों के पूरी तरह छिन्न-भिन्न हो जाने की वजह से देहाती क्षेत्रों में जातीय संतुलन बिगड़ गया। हालांकि बहुत-सी बुराइयां बनी हुई थीं लेकिन पूंजीवादी के प्रवेश ने सामाजिक हैसियत को धन का आश्रित बना दिया और लाभ कमाना सर्वाधिक चाहा जाने वाला सामाजिक काम हो गया।

शुरू में उपनिवेश सरकार की नीतियों ने सामाजिक सुधार को प्रोत्साहन दिया। भारतीय समाज को आधुनिक बनाने के प्रयत्न हुए ताकि देश पर आर्थिक अंकुश लग सके तथा ब्रितानी शासन की जड़े मजबूत की जा सकें। भारत की जाति व्यवस्था से लिपटे घोर सामाजिक अन्याय और समाज में स्त्रियों की हीन स्थिति की तरफ भी कुछ अधिकारियों का ध्यान लगा। इसका कारण उसकी इंसानी भावना थी, और इसने कुछ दूर तक एक भूमिका निभायी। इस अवस्था में भारतीय समाज के सुधार में ईसाई धर्म प्रचारकों का भी योगदान रहा। लेकिन शीघ्र ही उपनिवेशवाद के दीर्घकालीन हित और उसकी मूलभूत अनुदान प्रकृति का आग्रह प्रबल ढंग से सामने आ गया और सामाजिक सुधार की उपनिवेशवादी नीति बदल दी गई। परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजों ने सुधारकों को समर्थन देना बंद कर दिया और वे धीरे-धीरे समाज के उन लोगों के पक्ष में आ गये जो कट्टर और रूढ़िवादी थे।

जो भी हो, अंग्रेजों ने जिस सामाजिक नीति का अनुसरण किया था, वह निष्क्रिय नहीं रह सकी। राष्ट्रवादिता की बढ़ती हुई चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए शासकों ने तेज़ी के साथ फूट डालो और राज्य करो की नीति अपना कर साम्प्रदायिकता और जातिवाद को सक्रिय प्रोत्साहन दिया। परिणाम यह हुआ कि समाज की प्रतिक्रियावादी शक्तियां प्रभावशाली हुईं।

जनता के बौद्धिक और राजनीतिक स्तर पर जो हलचल पैदा हुई, उसने भी सामाजिक परिवर्तन के आंदोलन को आगे बढ़ाया। लेकिन सामाजिक परिवर्तन की सबसे अधिक प्रबल शक्तियाँ तब उभरीं, जब छोटी जाति के लोगों तथा स्त्रियों ने अपनी दलित स्थिति के प्रति जागरूक होकर समाज पुनर्प्रतिरूपण के लिए संघर्ष करना शुरू किया। 19वीं शताब्दी के अंत में ज्योतिबा फुले सरीखे लोगों के नेतृत्व में निचली जाति का एक प्रभावशाली आंदोलन निर्मित हुआ। इसी तरह दक्षिणी भारत तथा केरल में सन् 1920-30 के बीच उच्च वर्ग के सामाजिक-आर्थिक उत्पीड़न के विरुद्ध निम्न वर्ग ने स्वयं को संघर्ष के लिए संगठित किया। स्त्रियां और आदिवासी लोग भी अपने अधिकारों की रक्षा में उठ खड़े हुए। साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में सभी लोगों को तैयार करने के लिए राष्ट्रीय आंदोलन ने प्रतिबद्धता के स्वर में घोषणा की कि उसका उद्देश्य धर्म, जाति और स्त्री-पुरुष की विशिष्टताओं

को समाप्त करना है। इतना ही नहीं प्रदर्शनों में आम जनता की हिस्सेदारी, सार्वजनिक सभाओं लोकप्रिय आंदोलनों, मजदूर संघों और किसान सभाओं ने जातीयता और आरोपित वरिष्ठता की धारणा को दुर्बल किया।

भारतीय संस्कृति का आधुनिकीकरण एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष था। एक ओर भारतीय समाज के रूढ़िवादी और प्रतिक्रियावादी वर्ग ने आधुनिक संस्कृति की शुरुआत का विरोध इसलिए किया ताकि खतरे की शिकार अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक हैसियत की रक्षा कर सकें, लेकिन दूसरी ओर मध्य और उच्च श्रेणी कुछ खास वर्ग के भारतीय उसकी विरोधी प्रवृत्ति से दुखी हुए। उन्होंने पश्चिमी जीवन और संस्कृति के स्वस्थ, मानवतावादी तथा वैज्ञानिक तत्त्वों को सावधानीपूर्वक अपनाने के बजाये बिना परीक्षण किये ही उसका अंधानुकरण किया। उन्होंने यूरोपीय तौर-तरीकों और रीति रिवाजों की बंदरों की तरह नकल की। उन्हें यह अहसास नहीं रहा कि आधुनिकता का प्रश्न सोचने विचारने की दृष्टि और मूल्यों से जुड़ा हुआ है न कि बातचीत करने के तरीके, पोशाक या खाने की आदतों से। उन्होंने यह महसूस नहीं किया कि आधुनिक विचार और संस्कृति को भारतीय संस्कृति में सुगंधित करके ही सब से अच्छी तरह अपनाया जा सकता है।

एक बार फिर, इस प्रतिभास की जड़े, वापस जाकर उपनिवेशित नीतियों से जुड़ी। भारतीयों को 'राज' की बफादार प्रजा और अपने माल का बेहतर ग्राहक बनाने के लिए अंग्रेजों ने अपने उपनिवेश भारत पर अंग्रेजी संस्कृति थोपने का हर प्रयत्न किया।

ब्रितानी लेखकों और कूटनीतिज्ञों ने भी भारतीय समाज और संस्कृति की आलोचना भारत पर अपने राजनीतिक और आर्थिक शासन का औचित्य सिद्ध करने के लिए की। उन्होंने घोषणा की, क्योंकि भारत के समाज और संस्कृति में ही बुनियादी दोष हैं। अंतः वहां के लोगों की नियति ही यह है कि वे अनंतकाल तक विदेशियों द्वारा शासित होते रहें। इन दोनों ही चीजों की भारत में गहरी प्रतिक्रिया हुई। बहुत से भारतीयों ने स्वशासन संबंधी अपनी योग्यता को सिद्ध करने के लिए भारत के दूरस्थ अतीत को महिमा मंडित करना आवश्यक समझा। दूसरी ने पश्चिमी सभ्यता की नकल करने वालों को विषय बनाकर उनकी खिल्ली उड़ाई और आधुनिक विचार और संस्कृति अवस्थापन का विरोध किया। उनका विश्वास था कि अपनी सांस्कृतिक स्वायत्तता को सुरक्षित रखने का सबसे अच्छा तरीका होगा एक बार फिर अपने ही भीतर झांकना। हालांकि इस तरह से सोचने वालों की संख्या कम थी लेकिन उनका एक निश्चित प्रभाव लोगों पर (खास तौर से शहरों के निम्न-मध्य वर्ग पर) रहा।

ब्रितानी शासन ने भारत के संपूर्ण भौगोलिक क्षेत्र को एक शासन के अधीन ला दिया। उसने समान प्रशासन और कानून लागू करके देश को एकबद्ध भी किया। संचार के आधुनिक तरीकों (रेल, तार, की आधुनिक व्यवस्था, सड़कों का विकास और मोटर परिवहन) ने भी एकबद्धता की दृष्टि से वैसा ही असर डाला। गांवों और स्थानिक जगहों को आर्थिक आत्मनिर्भरता के विनाश और भीतरी व्यापार के विकास ने भी एकबद्ध भारतीय अर्थव्यवस्था के उभार की परिस्थितियां पैदा की। आधुनिक उद्योगों ने कच्चे माल के स्रोत और बाजार दोनों ही दृष्टियों से पूरे भारत को अपना क्षेत्र बनाया था,

और सारा देश उनकी बाहों में आ गया। यहां तक कि उन्होंने मजदूरों की भर्ती भी एक व्यापक अन्तर्देशीय आधार पर की। धीरे-धीरे भारतीय लोगों का आर्थिक भाग्य एक दूसरे से जुड़ता जा रहा था और भारत का जीवन एक समुच्चय का रूप लेने लगा था। सारे देश में शिक्षा का स्वरूप एक था। आधुनिक विचारों को ग्रहण करने की विधि एक थी। इसके कारण धीरे-धीरे अखिल भारतीय स्तर पर एक ऐसे शिक्षित वर्ग का जन्म हुआ, जिसका समाज की और देखने का तरीका और दृष्टिकोण समान था। इसी तरह इस दौर से दो नये वर्गों का जन्म हुआ। एक पूंजीपति वर्ग का दूसरा मजदूर वर्ग। इनकी प्रकृति पूरे देश के धरातल में समान थी और ये जाति, धर्म और क्षेत्र के परंपरागत विभाजनों से ऊपर उठे हुए थे।

इन सभी चीजों से अलग भारतीय लोगों का दमन करने वाले शत्रु का अस्तित्व बदस्तूर था। एक शत्रु ने भारतीयों को उनके सामाजिक वर्ग, जाति, धर्म और क्षेत्र के आग्रह से ऊपर उठाकर एकबद्ध किया। परिणाम यह हुआ कि साम्राज्यवादी विरोधी संघर्ष में इस दौर में एकता की जो भावना पैदा हुई, उसने लोगों को भावनात्मक और मनोवैज्ञानिक स्तर पर एकबद्ध किया और एक समान राष्ट्रीय दृष्टिकोण का जन्म हुआ।

ब्रितानी शासन तथा भारत के सामाजिक गुट और वर्ग

समय के बीतने के साथ-साथ ब्रितानी शासन का प्रभाव अधिक स्पष्ट रूप में उभरा। ब्रितानी राज्य तथा भारतीयों के उद्देश्यों, लक्ष्यों और हितों की टक्कर और अन्तर्विरोध एकदम खुलकर सामने आ गये। अधिक से अधिक भारतीयों ने महसूस किया कि अंग्रेज अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए भारत पर शासन कर रहे हैं। उन्हें सामान्य रूप में अंग्रेजी राज्य और विशेष रूप में अंग्रेज पूंजीपतियों के हितों की रक्षा के लिए भारतीय हितों की बलि चढ़ा देने में कोई हिचकिचाहट नहीं हुई। उपनिवेशवाद ही भारत के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पिछड़ेपन का बड़ा कारण बन गया है। भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों और गुटों ने धीरे-धीरे यह पता लगा लिया कि ब्रितानी शासन सभी आधारभूत क्षेत्रों में उनके विकास में बाधा पहुंचा रहा है।

संभवतया किसान वर्ग ब्रितानी उपनिवेशवाद का मुख्य शिकार था। सरकार ने उसके उत्पादन का बड़ा अंश लगान और अन्य करों के रूप में ले लिया। वह जल्द ही भू-स्वामियों और कर्ज देने वाले महाजनों की मजबूत पकड़ में फंस गया। उसको लगा कि न तो वह अपनी जमीन का मालिक है, न अपनी पैदावार का और न ही अपनी श्रम-शक्ति का। और जब उसने ज़मींदारों, भू-स्वामियों और महाजनों के विरुद्ध राजनीतिक और आर्थिक संघर्ष का संगठन किया तब सरकार ने कानून और व्यवस्था के नाम पर उसकी सारी पुलिस और मशीनरी का उसके विरुद्ध इस्तेमाल किया और अक्सर निर्दयतापूर्वक उसके संघर्ष को कुचल दिया। वक्त के साथ-साथ किसानों में साम्राज्यवादी भूमिका को समझ लिया और पाया कि उनके दुखमय संघर्ष की मुख्य ज़िम्मेदारी इस तंत्र की ही है।

कारीगरों और शिल्पकारों को भी साम्राज्यवाद के कारण मुसीबतें झेलनी पड़ी थीं। बिना नौकरी और मुआवजे के, अन्य नये स्रोतों के विकास से उनके सदियों पुराने जीवन निर्वाह के साधनों को छीन लिया गया था। 19वीं शताब्दी के अंत तक उनकी हालत अत्यंत नाजुक और खस्ता हो गयी थी।

फल यह हुआ कि 20वीं शताब्दी के साम्राज्यवादी विरोधी संघर्ष में उन्होंने बहुत सक्रिय भाग लिया।

आधुनिक उद्योगों के विकास के साथ भारत में एक नये सामाजिक वर्ग-मजदूर वर्ग का जन्म हुआ। यद्यपि यह वर्ग संख्या में छोटा था और पूरी आबादी में इसका अनुपात बहुत कम था, फिर भी इसने एक नये सामाजिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व किया। इसके सामने सदियों पुरानी परंपराओं, रीति-रिवाजों और जीवन के तौर-तरीकों के बोझ को ढोने की विवशता नहीं थी। प्रारंभ से ही उसके हित और दृष्टिकोण की प्रकृति अखिल भारतीय रही। अलावा इसके मजदूरों का एकत्रण कारखानों और शहरों में हुआ। इन्हीं कारणों से उनके राजनीतिक कार्यों को, उनकी संख्या की तुलना में कहीं बहुत अधिक महत्त्व मिला।

भारतीय मजदूरों की काम करने और रहने की स्थिति बहुत ही असंतोषजनक थी। सन् 1911 तक उनके काम के घंटों को लेकर नियंत्रण की कोई कानूनी व्यवस्था नहीं थी। बीमारी, बुढ़ापा, बेरोजगारी, दुर्घटना या आकस्मिक मृत्यु के विरुद्ध किसी प्रकार का सामाजिक बीमा नहीं था। भविष्य निधि की योजनाएं नहीं थीं। प्रसूति लाभ योजना सन् 1930-40 के बीच चलायी गयी हालांकि वह भी अत्यंत असंतोषजनक थी।

सन् 1889 और 1929 के बीच कारखाने के मजदूरों की वास्तविक मजदूरी में गिरावट आयी। सन् 1880 और 1890 के बीच मिलने वाली मजदूरी के स्तर को 20वीं शताब्दी के तीसरे दशक में पुनः लाना केवल तब संभव हुआ, जब एक शक्तिशाली मजदूर संघ के आंदोलन का विकास हो गया, और यह भी तब जब श्रम उत्पादकता में 50 प्रतिशत की वृद्धि हो गयी। परिणाम यह कि एक औसत मजदूर जिंदा रहने के लिए जितना आवश्यक है, उससे भी कम पर जी रहा था। ब्रितानी शासन में भारतीय मजदूरों की हालत को निचोड़ के रूप में प्रस्तुत करते हुए जर्मनी के प्रसिद्ध आर्थिक इतिहासकार जुरगेत कुज्यास्की ने सन् 1938 में लिखा :

आधा पेट भोजन और बिना हवा, रोशनी और पानी के जानवरों की जगह (दड़बे में) रहने वाला भारत का औद्योगिक मजदूर विश्व के औद्योगिक पूंजीवादी में सबसे अधिक शोषित प्राणी है।

चाय और कॉफी के बागानों में हालत इससे भी खराब थी। ये बागान क्षीण आबादी वाले ऐसे क्षेत्रों में स्थित थे, जहां कि जलवायु स्वास्थ्य को खराब करने वाली थी, लेकिन बागानों के मालिक इतनी पर्याप्त मजदूरी नहीं देते थे कि बाहर के मजदूर आकर्षित हो सकें। इसकी जगह पर मजदूरों की भर्ती में वे झूठे वायदे करते थे, जाल-फरेब करते थे। मजदूरों के बागानों में बिल्कुल गुलामों की तरह पड़े रहने के लिए वे सख्ती, मारपीट और शारीरिक यातना का सहारा लेते थे। यह एक आम तरीका था। सरकार ने उन्हें पूरी सहायता दी और दंड के ऐसे कानून बनाये जिनका सहारा लेकर वे बागान मजदूरों को अपने उत्पीड़नकारी नियंत्रण में रख सकें।

समय के साथ-साथ भारत के इस मजदूर वर्ग ने भी एक शक्तिशाली साम्राज्य विरोधी रुख अपनाया।

राष्ट्रीय आंदोलन की रीढ़ का काम करने वाला आबादी का एक अन्य बड़ा सामाजिक गुट मध्य

और निम्न-मध्य वर्ग का था। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में, जब अंग्रेजों ने छोटे-मोटे सरकारी कर्मचारियों की बड़ी संख्या में भर्ती की और नये स्कूलों तथा अदालतों के खुलने से नयी नौकरियों की जगह बनी तो इस वर्ग के लोगों को रोज़गार के नये अवसर मिले। देश के भीतर और विदेशी व्यापार में अचानक वृद्धि होने के कारण हर स्तर पर एक दुकानदार वर्ग का उदय हुआ लेकिन जल्दी ही एक अर्द्धविकसित अर्थतंत्र के तर्क ने प्रभावशाली ढंग से अपने आग्रह को सामने रखा। 19वीं शताब्दी के अंत तक सीमित संख्या वाले शिक्षित भारतीय-जिनकी पूरे देश की संख्या दिल्ली जैसे छोटे राज्य के आज के शिक्षितों की भी संख्या से कम थी—बेरोज़गारी के शिकार हो गये। यहां तक कि जिन्हें नौकरियां मिल गयीं, उन्हें भी लगा कि बेहतर तन्ख्वाह वाली ज्यादा जगहें मध्य और उच्च वर्ग के अंग्रेजों के लिए आरक्षित हैं। विशेषकर नौकरी की संभावना उन लोगों के लिए क्षीण हो गयी जो बी.ए. का प्रमाण-पत्र पाने से पहले विश्वविद्यालय की पढ़ाई खत्म करने के लिए विवश थे। मध्य और निम्न-मध्य वर्ग के भारतीयों ने जल्दी ही यह महसूस किया कि केवल आर्थिक दृष्टि से विकसित और सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से आधुनिक देश ही उन्हें एक सार्थक और उपयुक्त जीवन बिताने के आर्थिक और सांस्कृतिक अवसर दे सकता है। वही तेज़ी से बढ़ती गरीबी से, बेरोज़गारी से और सामर्थ्य की सामाजिक-आर्थिक क्षति से बचा सकता है।

भारत के औद्योगिक-पूंजीपति वर्ग का विकास सन् 1858 के बाद हुआ था। इस वर्ग ने शीघ्र ही ब्रितानी पूंजीपतियों से प्रतिस्पर्धा शुरू की और अनुभव किया कि उसका विकास सरकारी व्यापार, परियात शुल्क, परिवहन और सरकार की वित्तीय नीतियों के कारण बाधित हो रहा है। एक स्वतंत्र आर्थिक विकास के लिए संघर्ष करते हुए प्रायः हर आधारभूत आर्थिक मुद्दे पर साम्राज्यवाद से उसकी टक्कर हुई।

भारत का पूंजीवादी वर्ग अपनी प्रारंभिक दुर्बलताओं और बाधाओं के कारण हुई क्षति की पूर्ति के लिए सरकार से सीधे और सक्रिय मदद चाहता था ताकि वह दृढ़तापूर्वक जमे हुए पश्चिमी यूरोप के उद्योगों के मुकाबले में आ सके। फ्रांस, जर्मनी और जापान के तत्कालीन उद्योग बड़े पैमाने पर और सक्रिय रूप में दी गयी सरकारी सहायता से विकसित हो रहे थे। इस प्रकार की सहायता भारतीय पूंजीपतियों को नहीं दी गयी। अधिकतर भारतीय उद्योग की सबसे बड़ी आवश्यकता यह थी कि परियात शुल्क से छूट मिले ताकि उनका उत्पादन विदेशों के अधिक सस्ते माल के नीचे दब न जाये। न केवल उन्हें ऐसी छूट ही दी गयी बल्कि मुक्त व्यापार को भारत में विश्व के किसी भी अन्य देश से अधिक संपूर्णता के साथ चालू किया गया।

एक सहानुभूतिपूर्ण नौकरशाही भारतीय पूंजीपतियों को अनेक तरीकों से सहायता और सहयोग दे सकती थी। पश्चिमी यूरोप में नौकरशाही पूंजीपति वर्ग की वैसी ही सार्थक थी जैसे कि स्वयं पूंजीपति वर्ग। दोनों सैंकड़ों तरह के संबंधों में एक दूसरे से बंधे थे। भारत में यह नौकरशाही विदेशी थी। वह अंग्रेज़ पूंजीपतियों के साथ खाती-पीती थी। उसकी स्वाभाविक सहानुभूति अपने देशवासियों और उनकी नौकरशाही भारत के औद्योगिक प्रयत्नों के प्रति असहानुभूतिपूर्ण—यहां तक कि विद्वेषपूर्ण थी।

भारतीय पूंजीपतियों को सबसे अधिक भय, उनकी तुलना में कही बहुत अधिक, शक्तिशाली विदेशी पूंजी के आधिपत्य और दबाव से था। अपने अस्तित्व को बचाये रखने की प्रवृत्ति उनमें विशेषकर सन् 1918 के बाद तब उभरी, जब भारतीय उद्योग में बहुत बड़ी मात्रा से विदेशी पूंजी उड़ेली जाने लगी और ब्रिटेन के भीमकाय औद्योगिक निगमों ने भारत में 20वीं शताब्दी के दूसरे और तीसरे दशक में स्वीकृत परियात शुल्क, सस्ते भारतीय श्रम और बाज़ार की निकटता का लाभ उठाने के लिए अपनी सहकारी कंपनियां गठित करनी शुरू कीं। भारतीय पूंजीपतियों ने इस समय नारा लगाया : 'भारतीय बाज़ार पर भारतीय आधिपत्य'।

इस प्रकार भारतीय पूंजीपतियों ने पाया कि वे तेज़ी के साथ औपनिवेशित अर्थव्यवस्था के ढांचे, प्रशासनिक मशीनरी और उसकी नीतियों के खुले विरोध में पड़ गये हैं। धीरे-धीरे उन्होंने अनुभव किया कि उन्हें एक स्वायत्त राष्ट्र और सरकार की ज़रूरत है जो देशी पूंजीपतियों के अनुकूल हो। यह सच है कि धनी होने तथा एक कमज़ोर किंतु विकसित होते वर्ग के सदस्य के नाते उन्होंने तत्काल विदेशी शासकों का सीधा और खुला विरोध नहीं किया, क्योंकि वे अपने कतिपय प्रशासनिक पक्षानुग्रहों पर आश्रित थे। लेकिन सन् 1918 के बाद उन्होंने तेज़ी से बढ़ते हुए राष्ट्रीय आंदोलन और उसके राष्ट्रवादी नेताओं को समर्थन (अधिकतर रुपये-पैसे से) देना शुरू किया।

राष्ट्रीयता के उद्भव में सबसे पहले मैत्रीपूर्ण रचनात्मक भूमिका भारत के आधुनिक शिक्षित वर्ग ने निभाई। देश में यह पहला सामाजिक गुट था, जिसने इस तथ्य को पहचाना कि भारत में ब्रिटानी सत्ता की स्थापना से तेज़ी के साथ अतीत से संबंध विच्छेद हुआ है और एक नये ऐतिहासिक दौर का प्रारंभ हुआ है। ब्रिटानी शासन के प्रति उसकी प्रारंभिक प्रतिक्रिया बहुत सकारात्मक थी। 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में राजा राममोहन राय जैसे व्यक्तियों ने साफ तौर पर देख लिया था कि अंधी देशभक्ति काफी नहीं होगी, क्योंकि इतने बड़े देश के मुट्ठी भर विदेशियों से पराजित होने का कारण देश के भीतर का वह सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और बौद्धिक स्वरूप है, जिस पर ब्रिटेन ने अपनी उत्कृष्ट संस्कृति और सभ्यता थोप दी है। उन्होंने स्पष्टता और निर्ममता से भारत के तत्कालीन सामाजिक ढांचे और संगठन का विश्लेषण किया। उनका ख्याल था कि वे ढांचे और संगठित भारत के भविष्य के विकास का आधार नहीं बन सकते। अतः उन्होंने अपने समाज और देश को आधुनिक बनाने का निश्चय किया।

आर्थिक क्षेत्र में वे आधुनिक उद्योग, आर्थिक विकास और संपन्नता की संभावनाओं की ओर आकर्षित हुए। उन्हें उम्मीद थी कि ब्रिटेन (जो कि आर्थिक दृष्टि से उस समय का सर्वाधिक समुन्नत देश था) अपने उपनिवेशों में (जिसमें भारत भी शामिल है) आधुनिक विज्ञान और तकनीक तथा आर्थिक संगठन का सूत्रपात करेगा। राजनीतिक क्षेत्र में उनका आकर्षक आधुनिक विचारों और जनता की प्रभुसत्ता के सिद्धांत की ओर था, जिसकी परिणति जनतंत्र, अभिव्यक्ति और अखबार की स्वतंत्रता तथा संगठन बनाने और शासकों की खुले रूप में आलोचना करने के अधिकार की उपलब्धि में होती है। उन्होंने स्वयं अपनी आंखों से भारत की एकबद्धता और उसके निवासियों के एक राष्ट्र में जुड़ने की प्रक्रिया को देखा। अपने विश्वासों के विरुद्ध वे आधुनिक युक्तिवाद की शक्ति की ओर खिंचे।

उन्होंने यह महसूस करना भी शुरू किया कि साहित्य और कला को अनिवार्यतः कुछ विशिष्ट वर्ग की जगह आम जनता की आकांक्षाओं की पूर्ति का माध्यम बनाना चाहिए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए, एक तरफ तो उन्होंने आधुनिक शिक्षा के प्रसार और आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास की पैरवी की और दूसरी तरफ सामाजिक स्वतंत्रता तथा समाज और व्यक्ति की इस मानवतावादी धारणा से आकर्षित हुए कि व्यक्ति को उसके अपने लिए ही पुरस्कृत करना चाहिए।

अतः भारत के आधुनिक बुद्धिजीवियों ने लगभग आधी शताब्दी तक यह विश्वास किया कि क्योंकि ब्रिटेन उस समय का सर्वाधिक समुन्नत देश था, भारतीय समाज को नयी आकृति देने या उसको रूपांतरित करने का काम ब्रितानी शासन के अंतर्गत ही हो सकता था, होगा भी। परिणाम यह कि उन्होंने उस शासन को ईश्वरीय कहा और उसका समर्थन किया।

बहरहाल, जब 19वीं शताब्दी के 75 वर्षों में विकास संबंधी उनकी आशाएं किसी भी क्षेत्र में पूरी नहीं हुईं तो धीरे-धीरे एक व्यापक मोहभंग शुरू हुआ। अब उन्होंने यह महसूस करना शुरू किया कि ब्रितानी शासन के स्वभाव और उसकी प्रवृत्ति की उनकी समझ गलत थी और उनकी उम्मीदें गलत हाथों में पड़ गयी थीं।

अतः व्यवहार में, अंग्रेजों ने आधुनिक और उद्योग को भारत में स्थानांतरित नहीं किया। विनाशकारी अकाल का जो क्रम देश में सन् 1866 से लेकर 1901 तक चला, उसमें निर्देशित विकास के दिवास्वप्न चकनाचूर हो गये। बुद्धिजीवियों पर यह स्पष्ट हो गया कि देशवासियों की नियति घनघोर दरिद्रता है और आर्थिक विकास के नाम पर देश पिछड़ेपन की ओर बढ़ रहा है। उन्होंने महसूस किया कि जब तक भारतीय अर्थव्यवस्था पर साम्राज्यवादी का नियंत्रण है, देश का आर्थिक विकास नहीं हो सकेगा, बल्कि उल्टे, वह निरंतर पिछड़ता जायेगा। राजनीतिक क्षेत्र में अंग्रेज अधिकारियों और नेताओं ने भारतीयों को स्वशासन में प्रशिक्षित करने के नारे को अस्वीकृत करके घोषणा की कि ब्रितानी शासन का उद्देश्य एक उदार, स्वेच्छाचारी शासन की स्थायी स्थापना करना है। उन्होंने कहा कि भारतीय स्वशासन जनतंत्र के योग्य नहीं है। जिस अखबारी स्वतंत्रता ने भारत के शिक्षित वर्ग को इतना आकर्षित किया था, उसमें भी गलत काटछांट शुरू हो गयी। यहां तक कि अभिव्यक्ति और विचार की आधारभूत स्वतंत्रता और संगठन बनाने के अधिकार का तेजी से हनन किया जाने लगा, उसे सीमित किया जाने लगा। जिस कानून और व्यवस्था को उन्होंने शुरू में शांतिपूर्ण विकास और आधुनिकीकरण की मुख्य शर्त माना था, वह धीरे-धीरे उनके राजनीतिक और आर्थिक विरोध के कवच बन गये। भारत को एक सूत्र में बांधने की प्रक्रिया को पूरा करने तथा उसे एक राष्ट्र में पुष्पित करने की जगह पर अंग्रेजों ने सांप्रदायिकता, जातीयता और क्षेत्रीयता की विभाजक शक्तियों को उभारा-राजे रजवाड़ों की पतनोन्मुख परंपरा को सहारा दिया और ऐसा करके देश पर अपना नियंत्रण बनाये रखने की कोशिश की। भारतीय बुद्धिजीवियों ने देखा कि सांस्कृतिक क्षेत्र में आगे बढ़ने की जो भावना उभरी थी वह भी तेजी से खत्म हो गयी। भारत की ब्रितानी सरकार ने शिक्षा पर अपने बजट का 2 प्रतिशत से भी कम खर्च किया, आम जनता और स्त्रियों की शिक्षा की अपेक्षा की, तथा आधुनिक विचारों के प्रसार और उच्च शिक्षा के प्रति विद्वेषपूर्ण हो गयी। सन् 1858 के बाद ब्रितानी

शासकों ने सामाजिक सुधार के सारे प्रयत्नों से हाथ खींच लिया और अपने को समाज, धर्म और संस्कृति की सर्वाधिक पिछड़ी परंपरागत और ज्ञान विरोधी शक्तियों से जोड़ लिया।

फलस्वरूप, भारत के आधुनिक बुद्धिजीवियों ने ब्रितानी शासन की मूल प्रवृत्ति को नये सिरे से समझने और उसका परीक्षण करने का कठिन काम शुरू किया। उनकी समझ को विकसित होने में समय लगा लेकिन 19वीं शताब्दी के अंत तक उन्होंने यह महसूस करना शुरू कर दिया था कि जिस चीज़ को उन्होंने पहले भारत का आधुनिकीकरण समझा था वह वास्तव में उसका उपनिवेशीकरण था। अब उन्होंने साम्राज्यवाद के विरोध में एक राष्ट्रवादी राजनीतिक आंदोलन संगठित करने के लिए कमर कस ली।

तीन अन्य सामाजिक वर्गों (ज़मींदारों भू-स्वामी, राजे-रजवाड़ों, उच्च सरकारी पदों पर आसीन भारतीय नौकरशाही और परंपराबद्ध शिक्षित वर्ग) का साम्राज्यवाद के प्रति दृष्टिकोण, अनिश्चित और द्विपक्षीय था। एक वर्ग के रूप में ज़मींदार, भू-स्वामी और राजे-रजवाड़े विदेशी सरकार के प्रति वफादार थे क्योंकि उनके और शासकों के हित संयोगवश एक हो गये थे। इसी तरह नौकरशाही में उच्चतर पदों पर आसीन भारतीयों ने अपने शासकों के साथ-साथ एक गरीब देश में उच्च स्तरीय रहन-सहन, प्रशासनिक अधिकार के अहसास और ऊंची सामाजिक हैसियत के लाभ में हिस्सा बंटया। वे पूरे तौर पर ब्रितानी शासन के प्रति अंतिम समय तक वफादार बने रहे। लेकिन इन सामाजिक वर्गों के भी बहुत से व्यक्तियों ने उसे समय की देशभक्ति की भावना से प्रभावित होकर राष्ट्रीय आंदोलन में हिस्सा लिया।

परम्पराबद्ध शिक्षित वर्ग-जिसमें धार्मिक चिंतक, पंडे-पुजारी, उपदेशक और सनातन शिक्षा प्रणाली के शिक्षक आते थे-विरोधी दबावों में पिस गया। समाज और धर्म संबंधी अपने सनातनी, दृष्टिकोण के कारण इस वर्ग के लोग राजनीतिक रूढ़िवाद की ओर आकर्षित हुए। सत्ताधारियों के प्रति वफादार बने रहने की उनकी एक लंबी ऐतिहासिक परंपरा भी थी। इसी दौर में इस वर्ग के निचले स्तर के अधिसंख्य लोगों की हालत में तेज़ी से गिरावट आयी, क्योंकि आधुनिक स्कूलों-कालेजों के प्रसार के कारण परंपरागत पाठशालाएं और मदरसे तथा उच्च अध्ययन के पारंपरिक केन्द्र बंद हो गये। परम्परा से बंधे हुए बहुत से बुद्धिजीवी भी आधुनिक संस्कृति और विचार तथा धार्मिक समाज-सुधार के आंदोलनों के (सैद्धांतिक आधार पर और यह सोचकर कि समाज पर उनका प्रभाव क्षीण हो जायेगा) कट्टर विरोधी थे। ईसाई धर्म प्रचारकों के धर्म परिवर्तन के आक्रामक प्रचार ने भी उनके क्रोध को बढ़ाया।

परिणाम यह हुआ कि अंततः परंपराबद्ध बुद्धिजीवियों में दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं का जन्म हुआ। एक का अनुसरण करने वालों ने आधुनिक विचारों के प्रति अपनी उदासीनता को बनाये रखते हुए राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भाग लेने का समर्थन किया। दूसरे ने इस उम्मीद में विदेशी शासन का समर्थन किया कि परंपरागत रूप में समाज पर आधिपत्य बनाये रखने की जो स्थिति उसे प्राप्त थी, वह बनी रहेगी। सरकार ने इस दूसरी विचारधारा वाले लोगों को सक्रिय प्रोत्साहन दिया।

इसके कारण मंदिरों, मठों, मस्जिदों, दरगाहों, गुरुद्वारों और अन्य धार्मिक संस्थाओं का नियंत्रण

निर्बाध रूप में और दृढ़तापूर्वक परंपराबद्ध शिक्षित वर्ग के हाथ में आ गया। सरकार ने भी इस वर्ग को पेंशन, वित्तीय पुरस्कार, उपाधियां और सम्मान आदि के माध्यम से संरक्षण देना शुरू किया। उसने सनातन शिक्षा प्रणाली को बनावटी ढंग से जीवित रखने के लिए भी कदम उठाया। जैसे कि हमने पहले ही देखा है इसने सामाजिक और सांस्कृतिक सुधारों की ओर हाथ खींच कर रूढ़िवादियों की निगाह में आदर प्राप्त कर लिया। राष्ट्रीयता, जनतंत्र और धार्मिक विकास के आधुनिक विचारों के प्रसार को रोकने के उद्देश्य से अंग्रेजों ने इस दृष्टिकोण तक का प्रचार किया कि भारत के परंपरागत विचार और संस्थान वहां के लोगों के सर्वथा अनुकूल हैं। भारतीयों को अपने अर्थतंत्र, राजनीति और प्रशासन की व्यवस्था अंग्रेजों पर छोड़कर अपना ध्यान भारत के दार्शनिक और धार्मिक उत्तराधिकार और जीवन के तथाकथित आध्यात्मिक पक्ष पर केंद्रित करना चाहिए। श्रम के इस विभाजन ने भी परंपराबद्ध शिक्षित वर्ग को आकर्षित किया।

एक अन्य बड़ा तत्त्व जिसने सभी भारतीयों-रजवाड़ों से लेकर काश्तकारों, नौकरशाही के ऊंचे पदों के अधिकारियों से लेकर लिपिकों और धनिकों से लेकर गरीबों-को राष्ट्रीयता के उन्माद में खड़ा कर दिया, शासकों का रंगभेद संबंधी अहंकार का प्रदर्शन था। भारत में अंग्रेजों ने यहां के लोगों से हमेशा एक दूरी बनाये रखी और यह महसूस करते रहे कि जातीय स्तर पर विशिष्ट है। लेकिन 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब दोनों के बीच की सामाजिक और जातिगत खाई चौड़ी हो गयी तो एक गुणात्मक परिवर्तन आया। साम्राज्यवाद और उसके सिद्धांतों को पुनर्जीवित करने के एक कार्यक्रम के रूप में यूरोप में जातीय सिद्धांतों को प्रचारित करने की एक लहर उठी और बताया गया कि भारतीय एक हीन जाति है। उन्होंने विजेता शक्ति के अंग के रूप में विशेषाधिकारों के लिए आग्रह किया। वायसराय मेयों जैसे एक उच्चपदीय व्यक्ति ने सन् 1870 में पंजाब के उपराज्यपाल (लेफ्टिनेंट गवर्नर) को लिखा : “अपने मातहतों को सिखाइये कि हम सभी संभ्रांत अंग्रेज हैं जो एक हीन जाति पर शासन करने के एक शानदार काम में लगे हुए हैं।” जातीय अहंकार के ऐसे निर्लज्य प्रदर्शन से ही सोचने-समझने वाले हर आत्मसम्मानि भारतीय ने अपने को अपमानित और तुच्छ अनुभव किया। उसे राष्ट्रीय कार्यकलापों में हिस्सा लेने के लिए उत्तेजित कर दिया गया।

संक्षेप में, ब्रितानी शासन के मूलभूत औपनिवेशिक चरित्र और भारतवासियों के जीवन पर उनके हानिकारक प्रभाव ने भारत में एक शक्तिशाली साम्राज्यवादी विरोधी आंदोलन के उद्भव और विकास को रूप दिया। यह आंदोलन एक राष्ट्रीय आंदोलन था, क्योंकि इसने अपने अंक में भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों और दलों को समेट लिया। इन वर्गों और दलों में साम्राज्यवाद को लेकर अपने निजी अंतर्विरोध थे, जिनके कारण वे एक ऐसे राष्ट्रीय आंदोलन में साथ हो लिए, जो सभी का था। उनमें आपस में भी अपने हितों को लेकर टक्करें हुईं। लेकिन एक समान शत्रु के विरुद्ध उन्होंने अपने मतभेदों को भुला कर स्वयं को एकबद्ध किया।